मैं

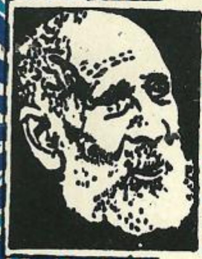

सबको प्यार करता हूँ

— कृपाल

'वह'

सबको

प्यार करता है

लेखिका :

सन्त कस्तूरी

प्रथम संस्करण : अप्रेल, 1994, 1100 प्रतियाँ

मूल्य : रुपये पतीस

प्रकाशक : श्री जी० डी० चतुर्वेदी
C-830-A 'पारिजात'
एच० रोड, महानगर,
लखनऊ—पिन : 226 006

मुद्रक : अग्रवाल प्रेस, ३१६ मोतीनगर,
लखनऊ—226004
फोन : 2 4 2 3 2 7

सर्वाधिकार सुरक्षित C

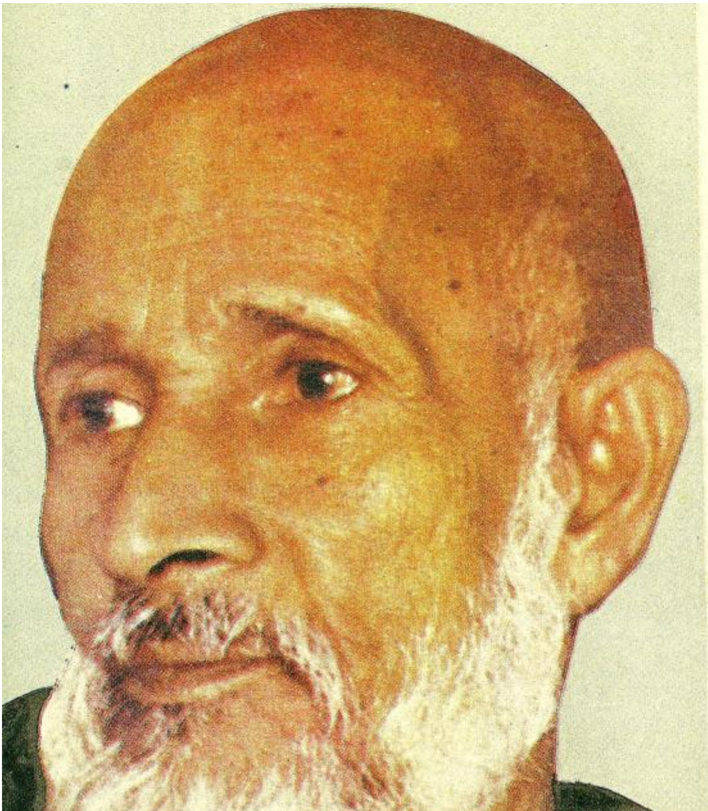

श्री राम चन्द्र जी महाराज

शाहजहाँपुर (उत्तर प्रदेश)

अपनी ओर से

"मैं अब तक यह तय नहीं कर पाया कि किस तरह से तुम्हें चलाया जावे। जिस तरह से अब तक तुम्हें चलाता रहा, उस तरह से चलाने में सब बातें वही पैदा होगीं, जो मुझे मिली हैं। खैर, उसमें भी मैं हर्ज नहीं समझता। मगर फिर यह सवाल उठ सकता है कि दो एक सी Personality एक वक्त में नहीं रह सकतीं। अगर दूसरी Personality ऐसी तैयार हो जावे इत्तफाक से, तो पहली की जरूरत नहीं रहती और फिर दुनिया छोड़नी ही पड़ती है। गुरु महाराज ने यह भी कहा है कि जो Personality इस वक्त काम कर रही है, हजारों वर्ष तक आगे नहीं आवेगी। खैर, यह भी कोई बात नहीं। ख़ास तौर पर प्रार्थना करने पर यह हो सकता है कि एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी, कुछ समय तक आती रहे। अगर तबियत मेरी यही मजबूर करती है कि जैसा अब तक तुम्हें चलाता रहा हूँ, वैसा ही चलाऊँ, जितना मैं तुम्हें अभी तक ले आया हूँ, उसका परिणाम यह है कि तुम्हारी अवतारी हालत (Prophetic condition) शुरू है और तुम अगर गौर करके देखो तो, तुम्हें यह पता, सम्भव है, चल सके कि ईश्वरीय-शक्ति तुमसे आदेश लेने के लिए और काम करने के लिये इन्तजार में रहती है।"

उपर्युक्त अंश पूज्य श्री बाबूजी महाराज द्वारा लिखित पत्र संख्या 2468/SRCM शाहजहाँ पुर, दिनांक नवम्बर 1955 का अंश है, जो उन्होंने अपनी बिटिया 'कस्तूरी' को ब्रह्म-विद्या-प्रशिक्षण के दौरान लिखा था। यह पत्रांश संकेत देता है कि समर्थ सद्गुरु श्री बाबूजी ने अपनी बिटिया को किस सीमा तक पहुँचाया और उसे कितनी सामर्थ्य प्र ान की है।

इस प्रशिक्षण के दौरान श्री बाबूजी महाराज ने अपनी बिटिया को 'विषय' (Subject) बना कर आध्यात्मिकता की आदि से लेकर अन्त तक की दशाओं की अनुभूतियों का अन्वेषण कर उनकी (दशाओं की) सैर भी करवाई थी, जिससे उन दशाओं में परिपक्वता आ जाये

और उनकी शक्तियाँ भी बिटिया को प्राप्त हो जायें। किन्तु अब शायद वह समय आ गया है कि पूज्य श्री बाबूजी के उस विशिष्ट प्रशिक्षण का प्रसाद जो उन्होंने अपनी बिटिया को दिया है, समस्त मानव के लिये उपलब्ध हो। अतः 'उन्हीं' की प्रेरणा पा कर, 'उन्हीं' की इच्छा से, 'उन्हीं' की वाणी को शब्दों में ढाल कर, श्रद्धेयी बहन कस्तूरी ने स्वयं अनुभूत अनुभूतियों को पुस्तक का रूप देने का दुर्लभ प्रयास किया है, जिससे यह विश्वास और भी सुदृढ़ हो जाये कि वास्तव में 'वह' सबको प्यार करता है।

इस पुस्तक में दिये गये आध्यात्मिक-स्थितियों से सम्बन्धित चित्र, इस पुस्तक की एक अनुपम विशिष्टता है। कदाचित् ही इस प्रकार के चित्र विश्व की किसी भी आध्यात्मिक-पुस्तक में उपलब्ध हों। इन चित्रों के अवलोकन से पुस्तक के सार को समझना अत्यन्त ही सरल हो गया है। विभिन्न स्तर के अभ्यासी सुन कर, पढ़ कर, अथवा अभ्यास द्वारा स्वयं आध्यात्मिक-दशाओं को प्राप्त कर लेते हैं, किन्तु उसकी वास्तविक स्थिति क्या है, इसका पता सम्भवतः सही रूप में नहीं हो पाता तथा प्रायः भ्रमित होने की भी आशंका बनी रहती है। मूल-केन्द्र कहाँ है ? अमुक क्षेत्र कैसा है ? कोई अभ्यासी इस समय कहाँ है ? और कहाँ पहुँचना है ? आदि बातों का ज्ञान शायद अपूर्ण रह जाता, यदि यह पुस्तक, दिये गये चित्रों के माध्यम से, आध्यात्मिक-क्षेत्र के उन सभी पहलुओं पर पूर्ण प्रकाश न डालती। जिनके विषय में उनके भ्रमित होने की सम्भावना भी रहती है। इन चित्रों के सहारे अभ्यासी अपनी अनुभूतियों के एहसास से यह जानने में निश्चय ही सरलता का अनुभव करेगा कि वह कहाँ है और उसे अभी और कितना चलना है।

विश्वास है, यह पुस्तकअभ्यासियों को, उनकी आध्यात्मिक-प्रगति में अद्वितीय सहयोग देकर, उस लक्ष्य तक पहुँचाने में सहायक सिद्ध होगी, जहाँ से, 'वह सबको प्यार करता है।'

—एस० एम० प्रसाद
अभ्यासी, सहज-मार्ग, लखनऊ

कु० कस्तूरी चतुर्वेदी

आमुख

मेरी इस पुस्तक 'वह सबको प्यार करता है' का आमुख आज अपने नाम की यथार्थता को सार्थक करने जा रहा है, अर्थात् जो मुख के सामने, अर्थात् एहसास में आया है, उसकी स्पष्टता का ही लेखन इस पुस्तक में अंकित हुआ है। 'आमुख' शब्द की सच्चाई एवं एहसास की गहनता को ग्रहण कर पाना मेरे श्री बाबूजी की कृपा के द्वारा ही सम्भव हो सका है। 'वह' अथात् मूल-शक्ति तो अमूल्य है, मैं भला उसे क्या समझ सकती; लेलिनी भी भला उस 'अन्तिम-सत्य' का स्पर्श रूपी साक्षात्कार समस्त के लिये कैसे प्रस्तुत कर पाती, लेकिन रियेलिटी को उनकी कृपा में लय रह कर अनुभूति द्वारा जिसने आत्मसात् किया हो, आध्यात्मिक-पुस्तकों के लेखन में उस लेखिनी का हाथ 'वे' स्वयं ही पकड़ लेते हैं, यही कारण है कि जिस दिन यह लेखिनी उठी, तो ऐसे, जैसे सागर में उठती लहरें, जिनके आदि को कोई देख नहीं सकता है कि ये कहाँ से आ रहीं हैं। कदाचित् लहरों की भाँति ही आज मेरी लेखिनी को भी यह पता नहीं है कि वह क्या लिखने जा रही है और किन के बारे में लिखने जा रही है। इसे तो बस इतना पता है कि इसे पकड़ने वाला कोई लेखक नहीं है। वाक्य एवं शब्द-रचना कहाँ से आ कर इसे लेखन का तथ्य प्रदान कर रही है और कौन इन्हें क्रमबद्ध करता जा रहा है, मैं नहीं जानती हूँ। इतना तो स्मरण है कि सिर उठाने का समय भी मेरे पास नहीं है, जो यह देखा जा सके कि स्वयं 'मूल' अथवा भूमा ही मानों समक्ष में आ कर स्वयं के गौरव को स्पष्ट कर रहा है। दिव्य-विभूति श्री बाबूजी महाराज के दैविक रूप में। सभी कुछ आज विचित्र लग रहा है। मानव-रूप में समर्थ सद्गुरु श्री लालाजी साहब के नूर-चश्म (आँखों के तारा) बन कर धरा के प्रांगण

को दिव्य-नूर से भर देने में समर्थ, युग-प्रवर्तक श्री बाबूजी महाराज आज युग के मन-प्राणों में समाये हुए चहुँदिशि को पावन-ईश्वरीय-धारा से पखार रहे हैं।

इतना ही नहीं, उनकी दिलेरी, दृढ़ता एवं मर्जी को तो देखिये कि उन्होंने अपनी पुस्तको को पढ़ने का भी हौसला मुझे नहीं दिया। कदाचित् इसलिये कि मेरे विचार उसमें लिखी हुई बातों का पक्षपात न कर सकें। उन्होंने मुक्ति केवल मुझे ही नहीं दी है, बल्कि अपने द्वारा पकड़ाई हुई लेखिनी को भी स्वतन्त्रता प्रदान की है, ताकि इसके द्वारा लिखित मेरी पुस्तकों को पक्षपात का दोष भी न लग सके।

—कस्तूरी

समर्पण

आखिर युग की पुकार 'सत्' का निखार पाने की आशा में दिव्य-विभूति श्री बाबू जी महाराज को पाकर निहाल हो उठी। उनको पाकर समय स्वयं ही ध्यानावस्थित हो गया एवं समय की गति टकटकी बाँधे हुए स्थिर हो गई। किन्हीं विराट् एवं अदृष्य का दर्शन पाने की तरस एवं स्पर्श की क्षमता से परे, चरणों को हृदय में धारण कर धरा बेसुध सी हो गई। यही है युग की पुकार की सच्चाई एवं समय की गरिमा का आंतरिक सत्य।

श्री बाबू जी महाराज द्वारा लिखित 'उसकी' महिमा कि "संग-बेचमक" होता हुआ भी 'वह' समस्त के लिये अपना प्यार भेजा करता है; को प्रत्यक्ष पाकर मेरी लेखिनी गौरवान्वित हो उठी है। मैंने यही पाया कि श्री बाबू जी महाराज की दिव्य - विभूति, 'भूमा' अर्थात् आदि-शक्ति से इस तरह से चिपकी हुई है कि मेरी लेखिनी गीत में इस पंक्ति को लिखना नहीं भूली कि—

"खुदा को खुद से ही जब प्यार मिल सका न था,
उतारा उनको सलोना सा रूप खुद का था,
करिश्मा 'भूमा' का साकार दिया हमको।।"

यही कारण है कि मेरे लेखन में दिव्य आदि-शक्ति का पर्यायवाची एवं परिचयात्मक तथ्य सदैव श्री बाबू जी महाराज से ही जुड़ा हुआ रहता है। 'भूमा' तो आदि-श्रोत है, इसलिये मानव की पहुँच से परे नकारात्मक अथवा 'नहीं है' के समान होकर रह जाता है, किन्तु

'उसका' ही साया ईश्वर; सृष्टि में सर्वव्यापक एवं सर्वशक्तिमान होते हुए भी प्राणिमात्र के हृदय में अपने होने की प्रतीति देता रहता है। यही कारण है कि सहज-मार्ग साधना में 'हृदय में ईश्वर मौजूद है 'यह ध्यान रखने के अभ्यास ने एवं श्री बाबू जी की दिव्य प्राणाहुति का प्रवाह हृदय में सतत् रूप से पाकर 'वह' हमें इतना अजीज और प्यारा लगने लगता है कि हृदय में 'उसका' साक्षात्कार पाने की तरस स्वतः ही जागकर मानो पुकार उठती है कि 'पिउ कहाँ, पिउ कहाँ'।

इतना ही नहीं, 'उनकी' कृपा से ईश्वरीय - गरिमा में लय होकर मेरी लेखिनी ने आदि - श्रोत 'भूमा' की चौखट का चुम्बन पाने का अलौकिक प्रयास किया है। आदि - शक्ति के दिव्य गौरव को अपनाये हुए दैविक परम स्थितियों की अनुभतियों से ओत-प्रोत पुस्तक रूपी यह पुष्प 'उनके' ही दिव्य-चरणों में समर्पित है। 'उनके' प्यार की दैविक-सुगन्ध इस बात की साक्षी है कि 'वह' सब को प्यार करता है।

—कस्तूरो

दो शब्द

मेरी इस पुस्तक 'वह सबको प्यार करता है' के लिये लिखे गये 'दो शब्द' आध्यात्मिक उन्नति के लिये परमावश्यक दो बातें—'अभ्यास और आविर्भाव' को लेकर ही हैं। मेरा अभ्यास जब प्रिय के दिव्य-आविर्भाव को हृदय में उतार कर उनमें ही लय-अवस्था पा गया, तो मानों मुझसे कह गया कि श्री बाबूजी महाराज ही दिव्य-विभूति के रूप में धरणितल पर अवतरित होकर सबको प्यार कर रहे हैं। तब से ही दिव्य-साक्षात्कार पाने के लिये मेरे हृदय ने एक पीर को सहेजना शुरू कर दिया और उपर्युक्त दो बातें आध्यात्मिक-दशा के रूप में दिल का दर्द और तड़प बन कर मेरे हृदय में उभर आईं।

यहाँ 'दिल का दर्द और तड़प' दोनों दशाओं की अनुभूतियों को स्पष्ट कर देने का मेरा प्रयास है। दर्द को तो फिर भी एक चेतना रहती है कि वह क्यों है और किसे पाने की तरस उसे भिगोये हुए है, किन्तु अपने अस्तित्व से भी विस्मृत हुई तड़प को तो स्वयं अपना भी पता नहीं होता है; तभी मैंने श्री बाबूजी को पत्र में अपनी दशा लिखते समय लिखा था कि "अन्तर में एक ऐसी तड़प है, जिसे मेरा विचार छू भी नहीं सकता है। तड़प असीमित ऐसी है कि अन्तर उसे अपने में समेट पाने में असमर्थ है। यह (तड़प) अनजान ऐसी है कि आप ही मेरे ध्यान में कभी इसलिये ही इसका स्पर्श भर दे देते हैं, जिससे यह मेरे ध्यान का स्पर्श पा सके।" जानते हैं, ऐसा वे क्यों करते हैं? उनके दैविक प्यार के इस रहस्य का पता मुझे अब लग पाया है। ऐसा इसलिये होता है, ताकि तड़प को मुझ में ठहर पाने का आधार मिलता रहे और मुझे यह होश मिलता रहे कि तड़प कहीं है। आत्मा के समक्ष पड़ा अन्तिम आवरण हटते ही हृदय बंधन से मुक्त होकर जब दर्द को

उगल देता है और हृदय के साथ दर्द भी बन्धन-मुक्त होकर विराट् में फैल जाता है, तभी तड़प का जन्म होता है।

मैंने यही पाया है कि आध्यात्मिक क्षेत्र में हृदय में साध्य का साक्षात्कार पाने तक ही आध्यात्मिक-दशायें (आत्म-निवेदन की स्थिति, समर्पण एवं लय-अवस्था) परम स्थिति को प्राप्त करती है। फिर पूर्ण लय-अवस्था और इसकी बका अथवा तुरियावस्था प्राप्त हो जाती है। अन्ततः दिव्य साक्षात्कार पा कर मानव-जन्म धन्य हो जाता है। दिव्य-गतियों की महत् अनुभूतियों का वर्णन मेरी इस पुस्तक का प्राण है। परम-जीवन-सर्वस्व श्री बाबूजी महाराज का दैविक संकल्प कि 'प्राणिमात्र को अन्तिम-सत्य तक ले जाना है' और उनका हम अभ्यासियों में इस आरज़ू को भर देना कि हमें लक्ष्य को पाना है, की दैविक-गरिमा के विषय में भला क्या कुछ लिखा जा सकता है। इतना ही नहीं, अन्तिम-सत्य (सोर्स) के इसी नेह-निमन्त्रण स्वरूप वे हमें अपने दिव्य-अंचल की छाया में समेटे हुए हैं। मेरी पुस्तक की आरज़ू के 'दो शब्द' समस्त के अन्तर-मन को दिव्य ईश्वरीय-शक्ति का प्रवाह देकर इस आशा से मुखरित कर देंगे कि 'वे सबको प्यार करते हैं'; तभी इस पुस्तक का स्व-नाम धन्य हो जायेगा।

इस पुस्तक की एक मुख्य विशेषता है कि वह तीन श्रोतों वाली दिव्य-त्रिवेणी के संगम में स्नान करके दिव्य-सौन्दर्य की चरम सीमा का स्पर्श पा कर निखर उठी है और अपने श्री बाबूजी महाराज के चरण-द्वय में नत होकर स्वयं को विस्मरण कर बैठी है।

इसका प्रथम श्रोत हमें 'ईश्वरीय-केन्द्र' के दिव्यानन्द से पखारता है, जिससे आगे आने वाले द्वितीय श्रोत की गहनता को पहचान पाने

के लिये 'मालिक' हमें वहाँ की दिव्य-चेतना प्रदान कर देते हैं। इसीलिये कि हम चेतन रह सकें कि मुख्य-केन्द्र अथवा सेन्ट्रल-रीजन में गति नहीं है। यहाँ श्री बाबूजी महाराज के दैविक-संकल्प की नैया में लय होकर मात्र पैराव की ही गम्यता है।

आप एक अनूठी गति इसमें यह पायेंगे कि जब मुख्य-केन्द्र की चेतना का अपना कार्य पूर्ण हो जाता है, तब हम चेतना की चेतना से भी शून्य अर्थात् 'ज़ीरों' की अवस्था में रह जाती हैं। हमारा अस्तित्व मात्र ज़ीरो ही रह जाता है। तब हमारे समक्ष तृतीय अर्थात् मूल-श्रोत भूमा का केन्द्र-द्वार स्वतः ही उज्ज्वल हो उठता है, मानों कब से हमारी प्रतीक्षा कर रहा हो।

सोचती हूँ एक से बढ़ कर एक इन तीन श्रोतों के वर्णन को मैं अलग कैसे करूँ? तो लगता है कि पुस्तक के मूल-श्रोत 'भूमा' का विवरण मात्र दर्शन के तौर पर ही आपके समक्ष रख कर लेखिनी ने अन्त में विविध दशायें लिख कर ही आपके स्नान के लिये इसे छोड़ दिया है। अब इसमें पूर्ण स्नान आप सबको करना ही है, यह इस पुस्तक का नेह-निमन्त्रण है, समस्त के लिये।

—कस्तूरी

वे सबको प्यार करते हैं

मैं क्या कहूँ उस 'अल्टिमेट (Ultimate) के विषय में कि जिसके लिये कहा जाता है कि 'वह' 'जो है सो है'। उसकी आन-बान और शान सभी कुछ निराली है। मजाक यह हुआ कि खुद तो 'जो है' सो है, कहकर बैठ गया और हमें यह संकेत दे दिया कि तुम 'ज़ीरो' अर्थात् कुछ नहीं हो। श्री बाबूजी के कथनानुसार हमें इस दिव्य निगेशन (Negation) की स्थिति का भी अहसास देकर छुप गया वह अपनी ही ओट में। आप बताइये कि फिर भला हम 'उनका' मुख कैसे देख सकेंगे। हाँ, यदि हम मुख को उठाने का प्रयास भी करेंगे तो यही पायेंगे कि मानों ईश का अन्तर्धान रहना ही हमारे 'उनसे' मिलन एवं पृथक रहने का कारण बन गया है। फिर कैसे उठती यह लेखनी 'उसके' बारे में लिख पाने के लिये जो सबको प्यार करता है।

यह बात न तो जगह की है और न विषय की है, बात तो मात्र उसके गौरव की है, जिसके गौरव को शब्द स्पर्श नहीं कर सकते हैं। मैं नहीं जानती हूँ कि आज मेरी लेखनी में ऐसा साहस किसने भर दिया है जो यह उन अव्यक्त के विषय में कुछ व्यक्त कर पाने का लोभ संवरण नहीं कर पा रही है। उत्तर पुकार - पुकार कर यही कह रहा है कि कोई इसे मजबूर कर रहा है लेखन के लिये। सच भी तो यही है कि अव्यक्त का वर्णन भी अव्यक्त ही कर सकता है और लेखिका तो अव्यक्त रूप से समक्ष में उतरे अक्षरों को समेट कर मात्र उतार भर रही है। हमारे श्री बाबू जी के कथनानुसार यह सत्य तो प्रत्यक्ष हो ही गया है कि हम बालक तो उसके ही हैं जो सबको प्यार करता है, यद्यपि उसके गौरव एवं गरिमा से हम अब तक नितान्त

अनभिज्ञ ही रहे हैं, किन्तु जब समय पुकारता है कि अब वह दिव्य-विभूति आ गई है, जो हमें हमारे उस दिव्य ठिकाने (वतन) की भी याद दिला रही है एवं इतना ही नहीं, हम निर्बलों को दिव्य-शक्ति का पावन प्रवाह देकर वह हममें आदि - स्थिति के एहसास को उतार कर जीवन को धन्य कर सकने में भी समर्थ हैं। जिनके अवतरण ने धरा की धड़कन में दिव्य - पावनता की दशा को भर दिया है, जिनके अहेतुक अनुग्रह ने गगन की सहज शून्यता को आध्यात्मिकता की श्रेष्ठ शून्य गति में परिणत कर दिया है एवं समस्त के पाने हेतु सुलभ भी कर दिया है। जिनके अवतरण ने वातावरण की शुष्कता को समेट कर ईश्वरीय - धारा के पावन - प्रवाह से प्लावित कर दिया है। इतना ही नहीं, उसने मानव-जीवन को, अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा आध्यात्मिक नव-जीवन देकर, भौतिकता से परे रखते हुए, आध्यात्मिक जीवन जीने की नई दिशा प्रदान की है। श्री बाबूजी महाराज आज परम पूज्य श्री लाला जी साहब के नूर-चश्म (आँखों के तारे) बनकर धरा के प्रांगण में दिव्य नूर की छटा बिखेर रहे हैं। सहज - मार्ग पद्धति में अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा मानव-हृदयों में ईश्वरीय - शक्ति का प्रवाह देकर वे अंतर में सुषुप्त दैविक-शक्ति को जागृत - अवस्था में लाकर, अभ्यासी में ईश्वर-प्राप्ति की सजगता भी प्रदान कर देते हैं। दैविक - शक्ति द्वारा अपने संकल्प को पूरा करने की अचूक एवं सहज क्षमता है 'इनमें'।

कहावत है, वह अपने घर में खुश, हम अपने घर में खुश, तभी यह सोच भी जन्म लेता और मरता भी रहा है कि 'चलो, बस हो चुका मिलना, न तुम खाली, न हम खाली।' बस इसी सोच को लेकर ऐसा ही व्यवहार हमारा डिवाइन के साथ भी चलता आ रहा है। युगों से सुनी हुई यह उक्त कहावत आध्यात्मिकता में 'जीव और परमात्मा के रूप में हमारे और 'उसके' दोनों के लिये ही नितान्त

भ्रमात्मक होते हुए भी सत्य रही है। सच ही तो है कि हम अपने ही ताने-बाने में उलझे हुओं को अवकाश ही कहाँ मिलता है, जो हम आदि तथ्य (भूमा) के विषय में सोचते कि जो विषय न होते हुए भी यथार्थ का प्राण है। यथार्थ की परिभाषा तो भला क्या हो सकती है, केवल संकेत मात्र ही है; किसकी ओर ? ईश्वर की ओर और इस यथार्थ का भी प्राण है भूमा अथवा अल्टिमेट, जिसके बारे में हमारे श्री बाबू जी महाराज ने बार - बार हमें इस सहज-मार्ग साधना में सचेत किया है कि हमारा लक्ष्य मात्र ईश्वर - दर्शन ही नहीं है, वरन् ईश्वर की प्राप्ति का है। ईश्वर-प्राप्ति के पश्चात ही बारी आती है सेन्ट्रल रीजन, अर्थात् भूमा के केन्द्र में प्रवेश पाने की जिसके लिये हमारा दिव्य श्रृंगार पूर्ण करते हैं श्री बाबूजी महाराज।

साधु समाज में तथा सहज-मार्ग के अभ्यासियों के मध्य भी मैंने सदैव से ही यह धारणा पाई है कि यदि हम ईश्वर - प्राप्ति के विषय में बोलते हैं, तो उन्हें यह लगता है कि ईश्वर की प्राप्ति भला कैसे हो सकती है। वे तो सदा 'ईश्वर-दर्शन' के विषय में ही सुनते आये हैं। पहले मेरा अपना भी विचार ऐसा ही था। मेरे श्री बाबू जी महाराज मेरे लिए अपनी कृपा एवं अथक परिश्रम द्वारा वह शुभ दिन लाये कि श्रेष्ठ आध्यात्मिक गतियों को उतारते हुए जब साक्षात्कार की घड़ी आई, तभी मैं उन दैविक - अनुभूतियों के विषय में अपनी दूसरी पुस्तक 'साक्षात्कार से अन्तिम सत्य तक' पूर्णरीत्या लिख पाने में सफल हो सकी थी। अब मेरे पूज्य श्री बाबू जी महाराज जब ईश्वर - प्राप्ति की अनुभूति के विषय में मानव - मात्र की जिज्ञासा एवं रहस्य का भी समाधान कराना चाह रहे हैं, तो फिर भला लेखिनी रुक भी कैसे सकती है, एक विशेष अनुभव तो मैंने यही पाया है कि ईश्वर - दर्शन की दिव्य-अवस्था तक अपना अस्तित्व (सेल्फ एग्जिसटेन्स) हम में

रहता है, यह केवल अपनी अन्तिम सूक्ष्मावस्था का ही द्योतक मात्र होता है या हम यों कह लें कि अपना अस्तित्व भी अपनी स्वाभाविक सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवस्था का स्पर्श मात्र ही पाता है। ऐसा हो भी क्यों न-जब तक दर्शन करने वाला और जिसका यह दर्शन है, अर्थात् ईश्वर समक्ष में है, तब तक दो ही कहे जायेंगे, किन्तु कैसा अनूठा सत्य है कि साक्षात्कार के बाद हम पुनः उस अवस्था से अलग हो ही नहीं सकते हैं। अतः कबीर की प्रेम भरी पुकार—'गुरू-गोविन्द दोऊ खड़े' हमारे समक्ष प्रत्यक्ष हो उठती है और तब हम देख पाते हैं कि मात्र समर्थ गुरू के रूप में श्री बाबूजी महाराज कितनी तत्परता से ईश्वरीय शक्ति में गोता देकर अथवा डुबकी देकर हमें ऊपर (बाहर) निकाल लेते हैं। मेरा ऐसा विश्वास है कि यदि ऐसा तत्परतापूर्वक न हुआ, तो फिर हम ईश्वरीय शक्ति से या ईश्वर में से बाहर आ पाने का होश खो बैठेंगे और एक बार फिर आध्यात्मिक - इतिहास ईश्वर-दर्शन की दिव्य-दशा की प्राप्ति के पश्चात चुप ही हो जायेगा। किन्तु ऐसा कैसे हो सकता है, जब कि महत्-शक्ति के रूप में श्री बाबूजी मानव - मात्र के लिये आदि-शक्ति (भूमा) के अन्तिम एवं अनूठे सत्य के साक्षात्कार को भी प्रत्यक्ष में उतार पाने का अलौकिक गौरव एवं क्षमता तथा दिव्य आदि - शक्ति का स्वामित्व लेकर धरणितल को श्रेष्ठ दैविक सौभाग्य से सजाने के लिये ही आये हैं। यही कारण है कि उस क्षण हमें लगता है कि किसी ने बड़ी तत्परता से हमें ईश्वरीय - शक्ति में नहला कर मानों उससे ऊपर निकाल लिया है या यों कहें कि उछाल दिया है, तो एकदम से हम सम्पूर्ण अपने को उस ईश्वरीय - शक्ति के रूप में ही पाकर मानव-जीवन की सफलता को प्राप्त कर लेते हैं। तत्पश्चात श्री बाबू जी के कथनानुसार सतत-परमानन्द की चरम सीमा छूकर वे हमें वैरागी सा बनाकर ऐसे निकाल ले जाते हैं, मानों हमने कुछ देखा ही नहीं है। तब समक्ष में फैला होता है, 'उसके' ममत्व का पसारा जो सबको प्यार करता है।

इतना ही नहीं, उस समय श्री बाबूजी महाराज ने हमें ईश्वरत्व की दिव्य अनुभूति के रस से भी ऐसा विभोर कर दिया था कि तब यदि कोई ईश्वर या बाबूजी का नाम भी ले लेता तो ऐसा ही लगता था कि यह मेरा ही नाम है। यदि उस विषय में कोई बात भी करता था तो यह लगता था मानों यह मेरी ही चर्चा हो रही है, लेकिन आज यदि मैं याद करना चाहूं कि वह मैं कौन थी, जिसे ऐसा लगता था, तो मैं नहीं जानती हूं। ऐसा लगता है मानों मैं थी ही नहीं, तो भला मैं क्या लिखूं? हाँ, इतना अवश्य कहूंगी कि साक्षात्कार के समय तो अपने अस्तित्व का धूमिल सा भान कहीं होता है, परन्तु ईश्वरीय शक्ति में डुबकी लगाकर ऊपर आने के पश्चात् तो मात्र अस्तित्व (आइडेन्टिटी) का अकेलापन ही रह जाता है। शायद यह भान उस परम स्थिति में हमें यथार्थ के इस भान से भ्रमित कर देता है कि यह अर्थात् ईश्वर ही 'वह' है, जिसके बारे में श्री बाबूजी ने लिखा है कि "जो है, सो है।" किन्तु बहुत शीघ्र ही हमारा यह भ्रम भी टूट जाता है और यथार्थ का प्राण हमारे समक्ष प्रत्यक्ष हो जाता है कि ईश्वर, ईश्वर है और भूमा, भूमा ही है। ऐसा मैंने तब पाया, जब श्री बाबूजी महाराज ने ईश्वरीय शक्ति के पसारे के मुख्य केन्द्र-विन्दु में डुबकी देकर, ऊपर लाकर मुझे पुनः मेरे होने की दैविक चेतना प्रदान की। वे परम प्रिय तब हमें इस दिव्यानुभूति से भी वंचित नहीं रखते हैं कि अब मुझे केन्द्र अर्थात् सेन्ट्रल रीजन के द्वार पर लाकर खड़ा कर दिया है। वैसे तो स्व-अस्तित्व मानव का आदि रूप है। वह श्रेष्ठ गति को पाकर ईश्वरीय-शक्ति में ही विलीन हो जाता है और शेष रह जाता है आइडेन्टिटी का मात्र अकेलापन। प्रथम तो मानव के प्राण के ईश में लय हो जाने पर सद्गुरु ईश को भी महाप्राण भूमा के केन्द्र में प्रवेश दे देता है अर्थात ईश्वरीय-शक्ति जो साक्षात्कार पाने के बाद हमारे साथ थी वह भी भूमा के केन्द्र में विलय हो जाती है। इस स्थिति के पश्चात् वे अभ्यासी को

दिव्य-शक्ति के सात सर्किल्स में भी प्रवेश दे देते हैं। इस प्रकार दिव्य विभूति का कार्य अभ्यासी के लिये पूर्ण हो जाता है, अर्थात् केन्द्र में प्रवेश देने पर अनुभूति द्वारा वे हमें संकेत देकर मानों यह सत्य प्रत्यक्ष कर देते हैं कि जिसके विषय में तूने लिखा है कि 'वह जो सबको प्यार करता है 'वह' शब्द 'भूमा' का ही केन्द्र है, किन्तु यह सत्य अब तक मानव-जिज्ञासा की पहुँच के बाहर ही रहा है। केवल बाबूजी ने ही संकेत देते हुये अपने संकल्प की नैया पर शेष के अवशेष रूपी हमारी आइडेन्टिटी (हमारे होने के भाव) को अपने संकल्प रूपी हृदय से चिपकाये, केन्द्र के पसारे में भी प्रवेश दे दिया है। यह इस बात का प्रतीक है कि श्री बाबूजी महाराज का आविर्भाव आदि-शक्ति के लाल के रूप में धरणी पर सत्युग लाने के लिये ही हुआ है और यही उनका दैविक संकल्प भी है।

हमारे एक अभ्यासी भाई का यह प्रश्न है कि स्व-अस्तित्व एवं आइडेन्टिटी में क्या अन्तर है? क्या दोनों एक ही श्रेष्ठ-दशा का संकेत देती हैं या दोनों की दशा में अन्तर है? आज उक्त वर्णन द्वारा उनके प्रश्न का उत्तर स्पष्ट रूप से मिल जायेगा, क्योंकि मैंने उनका उत्तर अपनी अनुभूति के सहित दिया है और दोनों की श्रेष्ठ दशाओं का विवरण, जो भी दे सकती थी, अलग-अलग ही दिया है, ताकि मेरे बाबूजी महाराज के कथनानुसार कोई यह न कह सके कि 'रामचन्दर बड़ी बातें ही हाँक गया है, कुछ कर के न दिखाया।' मैंने अपनी पुस्तकों में सदैव अभ्यास द्वारा अपनी अनुभूतियों का अवलम्बन लेकर ही कुछ लिखा है और लिखती रहूंगी। मैंने उपरोक्त श्रेष्ठ दिव्य-दशाओं का विवरण सतत् अभ्यास की सतत् डोर द्वारा अपने बाबूजी की कृपा से अपने अंतस् में उतरी अनुभूतियों के सहित ही स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है जिनका स्मरण आते ही आज भी मेरा हृदय अपने को खोजकर उन

परम पूज्य के चरणों में ही समर्पित हो जाना चाहता है। यद्यपि 'उसका' कोई पता नहीं है, किन्तु जो कुछ भी विवरण वे उजागर करना चाहते हैं समस्त के लिए, उसे क्रमशः लेखिनी पूर्ण रूप से व्यक्त करने का प्रयास कर रही है।

स्व-अस्तित्व और आइडेन्टिटी की दशा में बहुत सूक्ष्म अन्तर है। स्व-अस्तित्व की दशा में फोर्स (तेज) रहता है अर्थात् इस दशा के होने के भाव का कहीं न कहीं फोर्स या सहज दवाव समक्ष में पाया जाता है, यद्यपि सत्य तो यह है कि यह दबाव से रहित है, फिर भी दशा खुद के होने का आभास देती है, जिसे दबाव ही कहा जायेगा, अथवा यों कह लें कि 'कुछ नहीं है' अर्थात् निगेशन में भी दशा होने की खुमारी लोटती है। इससे भी स्पष्ट विवरण शायद ऐसे हो सके कि 'स्व-अस्तित्व' को यह तो ज्ञान रहता है कि 'वह है', किन्तु क्या है, किससे सम्बन्धित है, इसका पता नहीं होता है, और आइडेन्टिटी इस ज्ञान से भी बेहोश या परे होती है। आइडेन्टिटी में 'न होने' का इशारा भी शामिल नहीं होता है। श्री बाबूजी महाराज का कथन-निगेशन का भी निगेशन इसी दिव्य-गति के लिए संकेत देता है।

अब तक आध्यात्मिक पुस्तकों में भी लिखा है और मैं भी ऐसा समझती रही हूं कि साम्यावस्था ही श्रेष्ठ आत्मिक-अवस्था है, जिसमें समस्त के प्रति एक ही सहज-भाव होता है। किन्तु इससे परे, जिसे श्री बाबूजी ने सम-अवस्था कहा है, इसकी अनुभूति को मैं दिव्यानुभूति ही कह सकती हूं, जिसकी प्राप्ति के पश्चात् ही साँचा पूर्ण समर्पण स्वतः ही सम्पन्न हो जाता है। पश्चात् जो कुछ भी आत्मिक-उन्नति के क्षेत्र में पैराव होते-होते हमें सहज गतियों की परम रसानुभूति होती जाती है, वह भी स्वतः ही 'मालिक' को समर्पित होती जाती है, क्योंकि फिर हमारे स्वरूप में 'मालिक' के अतिरिक्त किसी भी आध्यात्मिक-गति

स्थिति में अभ्यासी को डुबकी देकर जब श्री बाबूजी बाहर लाते हैं तब मैंने यह रहस्य स्पष्ट हुआ पाया कि ईश्वर-प्राप्ति की परम स्थिति के पश्चात् सहज-गति की सीमा समाप्त हो जाती है। दिव्य-(डिवाइन पावर) का ही आभास समक्ष में व्याप्त मिलता है। एक और भेद भी खुल गया है कि जड़-समाधि का आभास भी मात्र उतनी सी देर को ही हमें मिलता है, जब तक कि 'मालिक' हमें ईश्वरीय-शक्ति में डुबकी दिये रहते हैं। कदाचित् इस दिव्य नज़ारे को देख कर ही मेरी लेखनी में उन्होंने ही यह दैविक प्रसाद भर कर गीत के रूप में हम प्राणियों के लिये उतार दिया था, जिसे अन्तर-मन सुन रहा था और मेरी लेखिनी उतार रही थी कि :—

ओ शहन्शाहे ! तेरी शक्ति ने दिखलाया कमाल,
यह अनूठा सत्य भी कर डाला है तूने बहाल।
ईश भी सिजदा करे, हम शून्य से चलते रहे॥

वह 'अनूठा सत्य' क्या था, इसकी जिज्ञासा तो सबको अवश्य ही होगी, इसलिये मैं इसे भी छिपाऊँगी नहीं। 'ईश भी' सिजदा करे, हम शून्य से चलते रहे' इस अनूठे सत्य की भला नाजुक स्थिति की नाजुकता के बारे में मैं कैसे लिखूं ? किन्तु मैं लिखूंगी, अवश्य, क्योंकि यह गौरव, यह गरिमा, दिव्य-विभूति मेरे श्री बाबूजी महाराज की ही है कि उस ईश्वरीय-शक्ति में डूबने पर, चाहे क्षणिक ही सही, यह अनुभूति पग गई थी कि मानों मुझे ईश्वर का साक्षात्कार नहीं वरन् ईश ही मेरा साक्षात्कार कर रहा था। पुलकित मन, गदगद् वाणी एवं उस दिव्य नजारे में एक बार फिर डूबी नज़रें आज इस पुस्तक लेखन के समय मानों उस दैविक - नज़ारे को पुनः समक्ष में उभार लाई हैं; कदाचित् इसलिये कि फिर वे नज़रें हमेशा के लिए उनमें अर्थात्

अपने 'एम्बलम' के मध्य सहज-मार्ग का भी दर्शन हमारे लिए स्पष्ट कर दिया है कि मात्र तीन सिटिंग्स लेने के बाद ही जो हम अपने को अभ्यासी मान बैठते हैं यह ठीक नहीं है। यह तो साधना में हमें प्रवेश मात्र मिला है इस बात का ही द्योतक होता है, किन्तु उन्होंने हमें सजग कर दिया है कि सहज-मार्ग में सत्य प्रवेश तो हमारा तभी हो पाता है, जब कि हम सत्य-पद से धरा को मिलाती हुई धारा में ध्यान के द्वारा प्रवेश पाते हैं। यही साँचा सहज-मार्ग है, तभी हम सच्चे अर्थ में अभ्यासी कहलाने योग्य होते हैं। प्रयास और अभ्यास तो हमारा सच्चे अभ्यासी के रूप में आ जाने के लिये ही रहता है।

ध्यान में लय हो जाने के पश्चात् जब हम सत्य-पद से योग पाये एम्बलम के मध्य उस सहज ईश्वरीय-धारा में प्रवेश पा जाते हैं तभी हमारे श्री बाबूजी महाराज का यह अद्भुत सत्य कथन कि 'सहज-मार्ग सबसे बढ़िया सिस्टम इसलिये है कि इसमें प्राणाहुति का प्रवाह देकर इच्छा-शक्ति द्वारा दिव्य-शक्ति का ही प्रयोग होता है', इसीलिये अनुभूतियों द्वारा श्रेष्ठ दशायें अन्तर में बिखर जाती हैं। यह अनुभूति कैसी अनोखी एवं अनुपम सत्य द्वारा मुखरित हो उठती है कि इस सतत् एवं ईश्वरीय सहज-धारा में प्रवेश पा जाने पर हम स्वतः ही एक दैविक सजगता से भर उठते हैं एवं अन्तर सतत् ध्यान में लय होकर इस ईश्वरीय सहज-धारा में इस तरह से लय होता जाता है, मानों इस सहज-धारा का आदि-श्रोत हमें अपनी ओर खींच रहा है, अथवा यों भी कह सकते हैं कि तब दिव्यता का सागर हमें अपने असीमित गर्भ में लय करना चाहता है एवं हमारे समस्त बंधनों को गलाकर हमें अपना सा ही बनाकर देखना चाहता है। बस, इसी परम शक्ति की प्राप्ति की राह में चलने पर श्री बाबूजी महाराज द्वारा लिखित 'कुतुब' की हालते भी अपनी खुलासा अनुभूति के सहित हम में मुखरित हो उठती है। 'कुतुब' की हालत में आकाश-तत्व से परे अनुपम

सत्य पद
सहज मार्ग

शून्यावस्था का परमानन्द हमें स्वत: ही मिलने लगता है और अचम्भा यह होता है कि हमारा अन्तर्मन अनजान सा रहता हुआ भी इस अवस्था के दिव्य-रस को पी रहा है—ऐसा हमें दिखाई पड़ता है, किन्तु स्वयं को उसमें (परमानन्द में) लय नहीं कर सकता है, मानों श्री बाबूजी महाराज हमें बरजते हैं कि यही नहीं, अभी बहुत कुछ देखना है। हमारी तो ऐसी भोली स्थिति हो जाती है कि तब मानों गर्दन झुकाये हम इस मन: स्पर्शी दृश्य को बस देखते ही रहते हैं और स्वयं को इस दृश्य से परे ही पाते हैं। इस परम-स्थिति की प्राप्ति हो जाने पर श्री बाबूजी महाराज का दिव्य कथन कि 'When Spirituality ends, Reality begins' अर्थात् जब आध्यात्मिकता समाप्त होती है, तब वास्तविकता का आरम्भ होता है—की दशा हमारे समक्ष इस प्रकार स्पष्ट हो जाती है, मानों 'वास्तविकता' ही हमारी आँख बन गयी है। ऐसा प्रतीत होता है कि जिधर देखें उधर 'वास्तविकता' ही 'वास्तविकता' की दशा फैली हुई है, मानों नश्वरता का देश कोई और था, जिससे हमारे किसी अणु तक का कोई सम्बन्ध ही नहीं था। यह अजीब, अनुपम गति, अनुभूति से यों बोलती है, मानों मात्र ईश्वर के, इसको अब किसी का भी कोई पता नहीं है। यहाँ तक कि खुद के बोलने पर यही लगता है कि मानों एक-एक शब्द वास्तविकता में ही पगा हुआ निकल रहा है। मैं कुछ भी बोलूँ, चाहे वह दुनियाबी बातें ही क्यों न हो, उनमें वास्तविकता की दैविक-दशा मानों ऐसी घुल-मिल जाती है कि इसके अतिरिक्त मैं कुछ बोल ही नहीं सकती। मानों मेरा कुल रूप या अस्तित्व ही 'वास्तविकता' (Reality) हो गया हो। इस दशा में पगी हुई मुझे, मानों श्री बाबूजी का मुख-दर्शन 'उनका' कुछ पता देता जाता है, कि 'वह कौन है।' आज जो वास्तविकता के रूप में मेरे समक्ष है, कल क्या होगा, उनका स्वरूप क्या बोलेगा, यह मैं नहीं जानती हूं। मेरी इस पुस्तक का मूल आधार है 'वह' जिनके चरण

'वास्तविकता' है, हृदय 'ब्लिस' है और मस्तक है अन्तिम-सत्य अथात् अल्टीमेट। उस सबको प्यार करने वाले के चरण चुम्बन या स्पर्श से ही हमें ऐसा लगने लगता है कि अब हमारी जान-पहिचान सबको प्यार भेजने वाले से सूक्ष्म सा योग पा गई है और अब तलाश आरम्भ हो जाती है उस मूल अर्थात् भूमा की।

लगता है 'मूल' अथवा 'जात' से जो आया है, वह चुप नहीं बैठ सकता है इसीलिये सारे दिव्य रहस्यों को समस्त प्राणी मात्र के हित श्री बाबूजी उजागर कर देना चाहते हैं। जैसा कि उन्होंने एक पत्र में मुझे लिखा भी था कि 'आध्यात्मिक-क्षेत्र में मैं किसी को भी मोहताज (भिखारी आध्यात्मिकता का) नहीं रखूंगा।' उन्होंने यह भी लिखा कि "डिवाइन के समस्त दिव्य-रहस्यों को समस्त के हित उजागर कर के ही जाऊँगा ; लोग उन्हें सहेज पायें, इस सेवा के लिये भी मैं सदैव तैयार रहूँगा।" यही कारण है कि आज इस पुस्तक में 'वास्तविकता' (रियेलिटी) की श्रेष्ठ दशा का विवरण लिखते हुए इस विषय में जो भेद समक्ष में स्पष्ट हो गया, उसे लिखना नितान्त आवश्यक है। इसे मैं सुचारू रूप से स्पष्ट करके लिख सकूं, शब्दों के माध्यम से, इसलिये इस लेखनी को वे अपने ही वरद-हस्त की पकड़ दें, यही प्रार्थना है। श्री बाबूजी महाराज ने लिखा है कि 'जब वास्तविकता समाप्त होती है तो दिव्यानन्द का प्रारम्भ होता है।' 'जब मेरे समक्ष 'वास्तविकता' की भी 'वास्तविकता' की दशा का भेद स्पष्ट हो उठा तो लगा कि यह एहसास तो मानो दिव्य-पर्दे की ओट से एक खूबसूरत नजारे की भाँति ही मुझे आनन्द दे रहा है। इस दशा अर्थात् 'वास्तविकता' की दशा के बारे में कैसे लिखूं, अब प्रश्न यही था। तुरत ही इस दशा की रसानुभूति मुझे दिव्य - आनन्द के परमानन्द के रूप में कहीं स्पर्श करने लगी और कुछ इस प्रकार से कि मानों मुझे बताना

चाह रही है कि बहुत पहले अभ्यास काल में वह मेरे सौभाग्य में आ चुकी है। तब मुझे अपने श्री बाबूजी महाराज द्वारा भेजे गये पत्रोत्तर की याद आई, जिसमें उन्होंने मुझे लिखा था कि 'जीवन में इस दशा का मज़ा शायद ही कभी किसी को मिला हो। यह तो हमारे श्री लाला जी साहब की ही बरकत है जो उन्होंने मुझे बख्शी है। और पुनः लिखा है कि 'जब दशा (दिव्यानन्द की) ज़ब्त से बाहर होने लगे तो अपने पूजा के कमरे में पड़ी कोच के सामने आँख मूँदकर बैठ जाना, क्योंकि लाला जी साहब ने इस दिव्य - दशा को तुम्हें अता कर के तुम्हारी निगरानी का भार भी स्वयं ही ले लिया है।' आज उन्होंने ही मानो इस पुस्तक लेखन में 'वास्तविकता' की हालत के इस भेद को मेरे समक्ष समस्त के हित के लिये ही स्पष्ट कर दिया है कि यह असीमित, असहनीय दिव्य - परमानन्द जिसे श्री बाबू जी महाराज ने 'दिव्यानन्द (bliss) का नाम दिया है, वास्तविकता की दशा की ही वास्तविकता है, अर्थात् 'वास्तविकता' का मूलाधार है।

एक गहन भेद मैंने इस पुस्तक को लिखते समय ता० आज २.४.६२ को यह भी स्पष्ट रूप से पा लिया है कि जब भी यह असीमित-परमानन्द अपनी सीमा को तोड़कर मुझे अभिभूत बना लेना चाहता था, तब एक अलौकिक सादगी की दशा मानों पारदर्शी रूप में मेरे और दिव्यानन्द की दशा के मध्य आ खड़ी होती थी। जानते हैं क्यों? इसलिये कि दिव्यानन्द के असीमित आनन्द में कहीं मैं आपे से बाहर न हो जाऊँ। श्री बाबूजी महाराज ने मुझे लिखा था कि 'वास्तविक बात तो यह है कि यह परम दशा शरीर रहते हुए पाना असम्भव थी, यह मेरे लाला जी साहब की ही बरकत है' जो प्राणि-मात्र के लिये अब असम्भव को भी सम्भव बना दिया है। कौन माँ अपने बालक की सुरक्षा में स्वयं को ऐसा सजग रख सकती है। क्या कहीं ऐसा प्रिय उदाहरण मिल

सकता है ? इसीलिये तो मैं यह कह सकती हूं कि 'गुरू तो मात्र शिक्षा देता है कि ऐसा करो, ऐसे बनो, किन्तु सद्‌गुरू रूपी माँ का कार्य तो दिव्य होता है। वे तो ख़ुद प्रदान भी करते हैं और फिर अपने द्वारा प्रदान की गई परमगतियों की सुरक्षा का भार भी वहन करते हैं। ऐसा अनुपमेय प्यार है मेरे श्री बाबूजी महराज का।

चलिये, अब और आग बढ़ें और खोजें कि इस पुस्तक का मूल आधार 'वह' अर्थात् 'भूमा' कौन है ? कैसा है भूमा का लाल ? अर्थात् 'वह' आदि-सत्य, जिनके चरण ही 'वास्तविकता' है, दिव्यानन्द हृदय है और मस्तक है स्वयं अन्तिम-सत्य अर्थात् अल्टीमेट। यही कारण है कि वास्तविकता की दशा में लय हो जाने पर हमें ऐसा लगने लगता है कि अब तक जिसके बारे में सुनते हुये भी हम मानों कुछ नहीं सुन पाते थे, जिसकी चर्चा श्री बाबूजी महाराज के पावन मुखारविन्द से सुनते हुये बस चुप ही बैठे रहते थे ऐसे जैसे कि किसी बेगाने के बारे में यह चर्चा हो रही है। आज उनसे ही हमारी पहचान की एक मनसधारा अब ऐसा अलौकिक एवं सूक्ष्म योग पा जाती है, जो सबको प्यार करने वाले ही नहीं, बल्कि यहाँ सबको प्यार करने वाले को भेजने वाले हैं। मैंने अपनी पुस्तक 'कौन थे वे' में इस दैविक-रहस्य को भी पूर्णतः उजागर करने का प्रयास किया है कि समर्थ श्री लाला जी साहब अपने सद्‌गुरु की दैविक-इच्छा को पूर्ण करने का बीड़ा उठाकर कैसे समर्थ सद्‌गुरु की दिव्य-उपाधि से विभूषित हुए। यह दैविक-इच्छा ही मूल आधार बनी श्री बाबूजी महराज के धरती पर अवतरित होने की। 'भूमा' ने ही जो खुद प्यार की विशिष्टता (कैरेक्टर) से भी परे है, संसार (रचना) के हित के लिये प्राणि मात्र के ध्यान की धारा को ईश्वर-प्राप्ति की ओर पुनः उन्मुख कर देने के लिये अपनी आदि-शक्ति पर पूर्ण मिल्कियत (स्वामित्व) देकर दिव्य-विभूति को पृथ्वी पर उतार दिया है। कदाचिद् इसीलिये समर्थ सद्‌गुरु श्री लाला जी साहब

(फतेहगढ़) की सात माह की अथक साधना ने विजय पाई और वह अविचल आदि-शक्ति का श्रोत भी उस अनुपम साधना की हिलौर (वाइब्रेशन) से विचलित हो उठा और मानों चल पड़ा मानवों के आत्मिक-उद्धार के लिए। उस आदि-श्रोत ने (सोर्स ने) अस्तित्व विहीन होते हुये भी अपने मान एवं मर्यादा को रखते हुये, समस्त को अपना प्यार भेजने के हित ही अपने दैविक-अस्तित्व का ठिकाना बनाया श्री बाबूजी महाराज के दैविक-स्वरूप को रचकर, अथवा यों कहें कि खुद ही प्यार में दैविक रूप की चूनर ओढ़ कर श्री बाबूजी महाराज के प्रिय एवं पावन रूप में अवतरित होकर, समस्त के जी में समाकर, ऐसा स्थापित हो गया मानों सबके उद्धार की जिम्मेदारी लेकर विश्व के मन-प्राण में बस गया है। श्री माबूजी महाराज ने अपने समर्थ सद्गुरु के नाम पर 'श्री रामचन्द्र मिशन' की स्थापना की और 'सहज-मार्ग' पद्धति को मानवों के हितार्थ ही सहज-साधना के साँचे में ढाला। उन्होंने अपनी पुस्तक में 'एफीकेसी ऑफ राजयोग' लिखा है कि यह पद्धति ऊपर से ही उतरी है। कदाचित् इसीलिये ही यह पद्धति साधना के सारे बन्धनों से मुक्त, ध्यान की धारा से अभ्यासियों के ध्यान को सहज ही दिव्य-धारा में लय कर देने में सहज ही सक्षम है, किन्तु कब? जब हम किसी भी बन्धन से इस पद्धति को अछूता रखते हुये मात्र अपने लक्ष्य 'ईश्वर-प्राप्ति' की ओर ही टकटकी लगाये रखते हैं। मैंने पाया है कि ध्यान की सहज आदि-धारा में अपने माइण्ड से किंचित मात्र कुछ भी मिलावट करते ही हम सहजता से अलग हो जाते हैं और हमें इसका पता ही नहीं चलता है। इसी कारण श्री बाबूजी महाराज ने स्पष्टतः लिखा है कि—"ईश्वर-प्राप्ति का लक्ष्य विचार में रहे क्योंकि ईश्वर-प्राप्ति ही सहज मार्ग पद्धति की जान है। सतत् ध्यान में लय रहते हुये पावन ईश्वरीय-धारा से आंतरिक योग बनाये रखना ही हमारा अभ्यास है। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से हमारी याद में 'मालिक' इस तरह से

समाये रहें कि जिनकी याद आते ही जी ईश्वर-प्राप्ति के लिये भर उठे और उनकी प्राणाहुति का प्रवाह हमारे हृदय को प्लावित करने लगे।' ऐसे अभ्यासी को श्री बाबूजी महाराज सदैव ही ईश्वर-प्राप्ति का लक्ष्य देकर जीवन को धन्य करके इससे आगे 'अन्तिम-सत्य' के दिव्य-साम्राज्य में प्रवेश पाने के लिये तैयार रहते हैं।

वास्तविकता तो यही है कि 'वह' अन्तिम-सत्य है, आदि-शक्ति है अथवा अल्टीमेट है' कह कर मात्र मैं उनका हवाला दे पाने का ही साहस कर सकी हूं, किन्तु वास्तव में 'वह' कौन है, यह 'वह' स्वयं ही जानता है या श्री बाबूजी ही जानते हैं, क्यों कि 'जात' से जिनकी उत्पत्ति हो, वही तो अपनी जात को जानता होगा। उस मुख्य केन्द्र-बिन्दु में झाँककर 'उनका हवाला ले आने वाले मात्र श्री बाबूजी ही तो थे। उन्होंने अपनी पुस्तक में इसका विवरण भी दिया है कि आदि-शक्ति के केन्द्र में उझकने मात्र से ही 'वे' उस दिव्य केन्द्र का कुछ विवरण दे सके हैं, जिसके बारे में आध्यात्मिक-इतिहास अब तक चुप ही रहा है। मैंने तो यही पाया है कि जो उस महत्-केन्द्र के परम-शक्ति रूपी दिव्य-वैभव में प्रवेश पा जाता है श्री बाबूजी महाराज के दिव्य-संरक्षण में, तो उससे भी यदि कोई उसके ही बारे में यह प्रश्न अचानक ही पूछ बैठता है कि 'वह कौन है ?' तो एक क्षण के लिये वह भौंचक खड़ा रह जाता है कि यह किसके बारे में पूछ रहा है, जिसे वह नहीं जानता है। जब खुदी खुद को ही न पहिचाने तो भला क्या उत्तर देगी। ऐसी दशा में जब श्री बाबूजी महाराज हम में भौतिक-चेतना का स्पर्श देते रहते हैं, तभी पुनः संसारिक परिवेश में मानों हमारा पुनः उतरना होता है और ऐसे ही हमारी दैनिक-चर्या सुचारु रूप से चलती रहती है। अव्यक्त रहते हुये भी हम सब 'उनके' प्यार से भींगे - भींगे रहते हैं, क्योंकि श्रेष्ठ-गति प्राप्त करके जैसे भौतिक कार्यों के लिए भौतिक गति-विधि एवं शक्ति स्वतः ही हम में गतिवान रहती है ठीक

उसी प्रकार सर्व-व्यापी होते हुये, सर्व-शक्तिमान होते हुये भी 'वह' सबको प्यार करता है, शाश्वत चुप रहते हुये भी 'वह' सबसे बोलता रहता है; हमसे परे रहता हुआ भी हमारे सुख-दुःख का साथी सा ही हमें प्रतीत होता है और प्रिय लगता है। हम यह भी तो सुनते आये हैं कि वह कोई नया नहीं है; हमेशा से था, हमेशा है और हमेशा रहेगा। यह कैसा आलौकिक मज़ाक है उसका कि अविचल होते हुये भी वह सर्वव्यापी भी है। सबको 'है और नहीं भी है' के भ्रम से भ्रमित करते हुये मुस्कुरा भी तो रहा है 'वह'। 'हाँ' और नहीं हैं 'अर्थात् यस और नो की गहनता में देदीप्यमान हुआ आज वह 'है' के रूप में प्रगट होकर, अपनी दिव्य-शक्ति सहित प्राणि मात्र के हित सक्रिय है। कैसा अद्भुत वर्णन है 'उनका'। है न अद्भुत 'वह' जो हमें यह आन्तरिक शाश्वत शान्तिमय अवलम्बन दे रहा है कि 'सत्य का उदय समक्ष में है, किन्तु अपने में अनूठा भी है।' यदि हमारे लिये 'अनन्त यात्रा' का शुभ-सन्देश लाया है तो हमारे लिये मिलन की घड़ी भी प्रतीक्षारत है। दिव्य-शक्ति का प्रवाह भी उनका है एवं सत्य-पद के द्वार पर भी बैठा है 'वह'। फिर अब देरी क्यों है, समय पुकार रहा है, परम - शक्ति आलिंगन के लिये मुक्त रूप से प्रवाहित है। बस, अन्तर के दामन को मुक्ति दे और फैला दे उन दिव्य - चरणों में, क्योंकि हमारा होकर ही तो आया है 'वह' और प्रेम की गरिमा भी तो 'वह' ही है। प्रेम अर्थात् परम + एम अर्थात् परम लक्ष्य है 'वह'।

यह सत्य तो श्री बाबूजी महाराज द्वारा प्रतिपादित 'सहज-मार्ग' से प्रकाशित हो गया है कि उन्होंने अभ्यासियों को मात्र साक्षात्कार का नहीं, वरन् ईश्वर - प्राप्ति का लक्ष्य दिया है, जो साक्षात्कार की परम - स्थिति एवं उस परमानन्द के भोग से भी परे ईश्वरीय-स्थिति में भी लय हो जाने की सहज-गति प्रदान कर देता है। दिव्य अनुभूति ने भी यह स्पष्ट कर दिया है कि इस परम ईश्वरीय-

स्थिति में अभ्यासी को डुबकी देकर जब श्री बाबूजी बाहर लाते हैं तब मैंने यह रहस्य स्पष्ट हुआ पाया कि ईश्वर-प्राप्ति की परम स्थिति के पश्चात् सहज-गति की सीमा समाप्त हो जाती है। दिव्य-(डिवाइन पावर) का ही आभास समक्ष में व्याप्त मिलता है। एक और भेद भी खुल गया है कि जड़-समाधि का आभास भी मात्र उतनी सी देर को ही हमें मिलता है, जब तक कि 'मालिक' हमें ईश्वरीय-शक्ति में डुबकी दिये रहते हैं। कदाचित् इस दिव्य नजारे को देख कर ही मेरी लेखनी में उन्होंने ही यह दैविक प्रसाद भर कर गीत के रूप में हम प्राणियों के लिये उतार दिया था, जिसे अन्तर-मन सुन रहा था और मेरी लेखिनी उतार रही थी कि :—

ओ शहन्शाहे ! तेरी शक्ति ने दिखलाया कमाल,
यह अनूठा सत्य भी कर डाला है तूने बहाल।
ईश भी सिजदा करे, हम शून्य से चलते रहे ।।

वह 'अनूठा सत्य' क्या था, इसकी जिज्ञासा तो सबको अवश्य ही होगी, इसलिये मैं इसे भी छिपाऊँगी नहीं। 'ईश भी' सिजदा करे, हम शून्य से चलते रहे' इस अनूठे सत्य की भला नाजुक स्थिति की नाजुकता के बारे में मैं कैसे लिखूं ? किन्तु मैं लिखूंगी, अवश्य, क्योंकि यह गौरव, यह गरिमा, दिव्य-विभूति मेरे श्री बाबूजी महाराज की ही है कि उस ईश्वरीय-शक्ति में डूबने पर, चाहे क्षणिक ही सही, यह अनुभूति पग गई थी कि मानों मुझे ईश्वर का साक्षात्कार नहीं वरन् ईश ही मेरा साक्षात्कार कर रहा था। पुलकित मन, गदगद् वाणी एवं उस दिव्य नजारे में एक बार फिर डूबी नजरें आज इस पुस्तक लेखन के समय मानों उस दैविक - नजारे को पुनः समक्ष में उभार लाई हैं; कदाचित् इसलिये कि फिर वे नजरें हमेशा के लिए उनमें अर्थात्

ईश्वरीय - गति में ही विलीन हो जायेंगी। फिर बाहर आने पर तो सब कुछ नया - नया लगने लगता है और मात्र असलियत का पसारा ही समक्ष में होता है। छुओ तो असलियत, खाओ और देखो तो समस्त में मात्र असलियत ही व्याप्त मिलती है, किन्तु क्या अचरज है, कैसा है दिव्य - देश का वह दर्शन कि असलियत का पसारा जो अब तक सत्य लग रहा था, अचानक जाने कब और कहाँ गायब हो जाता है और समक्ष में रह जाता है महा-वैभव का दिव्य-पसारा। तब ऐसा लगता है कि अपनी नजरों से मानों हम वह दिव्य-नजारा नहीं देख पा रहे हैं, वल्कि 'उनकी' नजरों से ही परम-नज़ारा हम छू पाते हैं। इसके बाद 'मालिक' की वह दिव्य नजर ही हमें कुछ-कुछ बतलाती रहती है और लेखन के लिए शब्दावली भी हमें वही दिव्य-नज़र प्रदान करती है।

अब लेखिनी पुन: उठी है और बोल रही है कि वह दिव्य-साक्षात्कार का नज़ारा तो ईश्वरीय लय-अवस्था के सहित ईश्वर में विलीन हो गया, किन्तु विश्व को यह दिव्य-संदेश भी दे गया है कि धरा पर अवतरित श्री बाबूजी महाराज रूपी दिव्य-विभूति ही मानव-मात्र को ईश्वर-प्राप्ति का सम्बल सहज-मार्ग साधना द्वारा प्रदान कर रही है एवं दैविक-शक्ति का प्रवाह हृदय में देकर सहज-गति की सहज-अनुभूति दे पाने में समर्थ है। इसलिये सच तो यही है कि श्री लालाजी साहब के अतिरिक्त अथवा ईश्वर की इच्छा के अतिरिक्त इस दिव्य-विभूति के बारे में कोई दूसरा कुछ कह भी कैसे सकता है। सृष्टि के सौन्दर्य को पुन: सहज निखार देने के लिये, मनको सजाकर सहजता की सही-दशा में पुन: ले आने की परम-शक्ति एवं सामर्थ्य को प्रदान कर पाने की क्षमता वाली इस विभूति को धरा पर उतार लाने के लिये ईश्वर को भी भूमा की परम-शक्ति की ओर ही निहारना पड़ा होगा। एक अनोखी गरिमा एवं दिव्य गौरव से गौरवान्वित करने के लिये

आदि-गुरू श्री लाला जी साहब (स्पिरिचुअल-जाइन्ट) को भी मानों स्वयं ईश्वर ने ही यह सौभाग्य प्रदान किया था।

सच तो यह है कि मानव-जीवन के लक्ष्य का मूल्य हमारे जीवन-मूल्यों से कहीं श्रेष्ठ एवं गुरुतर होता है। जीवन के मूल्य तो परिवर्तन शील है क्योंकि ये माइण्ड की क्रिया पर आधारित हैं और माइण्ड की क्रिया में भटकन मौजूद है। यही कारण है कि जब मानव-जीवन का लक्ष्य दिव्यता को प्राप्त करने की ओर गतिशील हो जाता है तो फिर भटकना समाप्त होकर चारों ओर स्थिरता ही स्थिरता फैल जाती है, तभी जीवन का मूल्य भी स्थिर हो जाता है। यही कारण है कि सहज-मार्ग पद्धति में श्री बाबूजी महाराज ने हमारे ध्यान के रुख को कर्म के भाव से अछूता रखकर, जीवन के मूल अर्थात् ओरिजनल सोर्स की ओर आकर्षित रखने के लिये सतत अभ्यास का सम्बन्ध एवं मोड़ मूल-श्रोत अथवा आदि-शक्ति से ही योग पाये रहे, ऐसा ही बताया है। इसमें मैंने यह एक आश्चर्य एवं रहस्य भी पाया है कि जितने भी जीवन अब तक हमें मिलते आये हैं, उन सब का भटकना समाप्त होता जाता है अर्थात् संस्कार घुलते जाते हैं और हम मूल अर्थात् दिव्य-शक्ति का आधार पाते हुये, मूल्यों की गणना से परे निकल जाते हैं। श्री बाबूजी महाराज ने तो हमें अन्तिम लक्ष्य भूमा का ही दिया है, जो मूल अर्थात् ईश्वर का भी मूल आधार है। यही कारण है कि अवतारों का धरा पर अवतरण आवश्यकतानुसार ही शक्ति लिये हुये होता है और कार्य के परिवर्त्तन के अनुसार प्रकृति द्वारा उनकी शक्ति में भी परिवर्त्तन हो जाता है। किन्तु आदि-शक्ति, जो सृष्टि का आदि-श्रोत है वहाँ की मौजूदगी का एहसास देने के लिये जिस दिव्य महाशक्ति को धरा को सजाने के लिए उतारा जाता है, उसका संकल्प, कार्यगति, नेचर से परे अपरिवर्त्तनशील होता है। वह आदि-शक्ति के आदि-श्रोत से योग पाये हुये कार्यरत है।

उसके द्वारा ही धरा पर आदि-शक्ति का प्रवाह प्रवाहित है, जो मानव की ग्रहणशीलता से परे हैं। इस दिव्य-विभूति की इच्छा-शक्ति के द्वारा ही यह दैविक-शक्ति प्रवाह हमें 'उनकी' प्राणाहुति शक्ति द्वारा अपने अन्तर में सतत् रूप से मिलता रहता है। वह शक्ति हमारे अन्तर की सारी असन्तुलित वृत्तियों को, अस्थिरता एवं अशान्ति लाने वाले मानसिक विकारों को बाहर निकालकर हमें आदि सहज-अवस्था में सुव्यवस्थित कर देने के लिए प्रयत्नशील है। यह दिव्य-प्राणाहुति का प्रवाह हमारे जीवन-मूल्यों को मूल अर्थात् ईश्वरीय-गति में परिवर्तित कर देता है। मेरी यही अनुभूति इस पुस्तक का प्राण बनकर समस्त के लिये दिव्य नव-सन्देश वाहक का कार्य करेगी, ऐसी दृढ़ता मानों मेरे रोम-रोम को पुलकित करती जा रही है। मेरी साधना में एक सत्य और है कि प्रारम्भिक साधना-काल में जो विधिवत् मेरी छः या सात वर्ष की अवस्था से शुरू हुई, मैंने भगवान् राम और कृष्ण के ध्यान में तन्मय रहने पर अनुभूति में जो परिवर्त्तन एवं आनन्द पाया था, उसके अनुसार ही मुझे लगता है कि उस साधना का फल मुझे मेरे श्री बाबूजी महाराज के रूप में मिला। इस पुस्तक में भी दिव्य-अनुभूतियों की महत्ता सहित सब बातें लिखने का प्रयास कर रही हूँ, क्योंकि आज श्री बाबूजी महाराज का यह कथन भी समक्ष में स्पष्ट हो उठा है कि 'फीलिंग इज दि लैंग्वेज ऑफ गॉड' अर्थात् 'अनुभूति ही ईश्वर की भाषा है।' वास्तव में न शब्दों का चयन मेरा है और न दिव्य-रहस्यों का उद्घाटन कर पाने की क्षमता मुझमें है। हां, एक बाबूजी मेरे हैं और लगता है कि आज मेरे में ही होकर रह गये हैं, तो फिर यदि वे रहस्य खोलना चाहेंगे तो लेखिनी भी रुक नहीं पायेगी।

सर्वप्रथम बाबूजी महाराज द्वारा प्रतिपादित सहज-मार्ग साधना को अपनाने पर जब-जब समक्ष में श्री बाबूजी का ध्यान आ जाता था

तो अनुभव बाह्य दृष्टि को अन्तर में खींच ले जाता था, मानो यह बताने के लिये कि उनका ध्यान आते ही जो प्राणाहुति हृदय पा रहा है—उससे अपने अन्तर को भर लें और अपने अन्तर के परिवर्त्तन को भी देखें। सत्य ही ऐसा लगता था कि मानों अन्तर ईश्वरीय-धारा में स्नान कर रहा है, फिर आँख खोलने का मन ही नहीं होता था अथवा यों कहें कि अन्तरमन दृष्टि को भी इस दिव्य-शक्ति प्रवाह में डुबो देना चाहता था। क्रमशः ध्यान तो स्वतः ही ध्यानावस्थित हो गया था और ध्यान रखने का अभ्यास भी छूट गया। एक ओर था ध्यान की धारा में लय हुआ अंतर्मन और मिलती हुई ईश्वरीय - धारा का सतत् प्रवाह और दूसरी ओर ध्यान में लय हो जाने के कारण बदलती हुई आत्मिक-दशायें। सूक्ष्म से सूक्ष्म परिवर्तित होती हुई आध्यात्मिक-दशाओं को भी अन्तर्मन पकड़ कर मानों उसमें लय रहने लगता था और होता भी कैसे न, वह अमूल्य परमानन्द में पगी अनुभूतियाँ मानों हृदय को प्रथम तो प्रिय की सामीप्यता का, फिर सालोक्य की सुन्दरतम् अवस्था का एहसास यों दे रही थीं मानों जीवन रहते हुए भी मेरे पैर धरती का स्पर्श नहीं पा रहे हों। कोई मुझे नाम लेकर पुकारता था, तो मेरा नाम ही मानों मुझे या मेरे ध्यान को धरा पर खींच लाता था। श्री बाबूजी महाराज की दिव्य-विभूति के स्वतः ही ध्यान में बस जाने के फलस्वरूप अन्तर में उनकी सामीप्यता का सुन्दर नजारा भी दिखलाई देने लगा। इसके पश्चात धरा पर रहते हुए भी उन्होंने मेरे ध्यान को ईश्वरीय-लोक का वासी बना दिया था। अतः एक दिन अचानक जब बाल काढ़ने के लिये कंघा लेकर उठी तो लगा कि कुल चेहरे सहित मेरा स्वरूप ही बाबूजी का हो गया था। संकुचित सी होकर मैंने कंघा रख दिया और उन्हें पत्र में इस प्रिय दशा को लिख दिया और पत्र भेज दिया। इसके बाद तत्काल उनका रूप तो मुझे भूल गया और लगा कि मेरा कुल रूप ईश्वरीय ही हो गया है। इस

दशा में स्वयं से इतना प्यार लगने लगा कि मानों ध्यान पूजा-वन्दना सब स्वयं की ही कर रही हूँ; तभी मैंने श्री बाबूजी को यह पावन एवं प्रिय दशा लिखी कि 'अपने सजदे के सिवा गैर का सजदा है हराम।' अब आप ही बतायें कि मेरा लक्ष्य क्या था? मैं स्वयं ही नहीं जानती हूँ। लगता था मानों लक्ष्य को जी ने चुनकर अन्तर में सहेज लिया था और अब लक्ष्य स्वयं मानों साकार होकर मुझमें रम रहा था। मैं तो मात्र दृष्टा थी और अब भी हूँ। इन गतियों का वर्णन करते समय आज मानों एक बार पुनः समक्ष में वही अभ्यास-काल स्पष्ट हो जाता है। ध्यान अब स्वतः ही ध्यान में रहने लगता है और तब से यह लगने लगा कि वह दिव्य ईश्वरीय-धारा मानों स्वयं मुझसे ही प्रवाहित होकर चारों ओर पवित्रता फैलाने लगी है। तब श्री बाबूजी महाराज ने मुझे लिखा था कि—"इस पावन गति को पा जाने पर ही अभ्यासी प्रशिक्षण के कार्य को पूर्णरीत्या कर पाने योग्य हो जाता है, अर्थात् उससे फैलती हुई शक्ति बेकार न जाये, बल्कि वह दूसरों में उस दिव्य प्राणाहुति शक्ति का प्रवाह देकर आध्यात्मिक लाभ पहुँचाये। यह कार्य अब तुम्हारे लिए स्वतः ही हो गया है।" यद्यपि ऐसा एहसास खुद को भी रहता है, फिर भी अपने प्रिय से आज्ञा पाने की प्रतीक्षा रहती है। अब आप ही बताइये, किसने हमें ऐसा बना दिया। मैंने तो मात्र इतना ही पाया कि जी अब अपने प्रिय लक्ष्य एवं श्री बाबूजी को स्वयं में सहेज कर अन्तर्मुख हो गया है। इसके पश्चात् यह सत्य भी मेरे समक्ष स्पष्ट हो गया है कि स्वयं लक्ष्य अथवा ईश्वर अथवा सद्गुरु कभी प्रिय से भी प्रियतम रूप में मेरे जी को अथवा कभी मुझे दिव्यता से सजाता हुआ सादगी की दशा में निखार लाता है। सरलता को भी निज दिव्य प्यार देकर, सरस, किन्तु सहज बनाता चलता है। ऐसी अलौकिक एवं दिव्य अनुभूतियाँ ही मानों मुझमें यह सन्देश दृढ़ करती चली गईं कि श्री बाबूजी महाराज के रूप में मैंने वास्तविकता

(रियेलिटी) को ही ग्रहण कर लिया है। मुझ में साक्षात्कार की दिव्य दशा की बरक़त उतारने वाले वे ही हैं और फिर उससे परे भूमा के केन्द्र (सेन्ट्रल रीजन) तक पहुंचाने वाले भी वे ही थे और हैं। अब उनके ईश्वरीय-नूर अर्थात् शरीर की महासमाधि के पश्चात तो उनका दर्शन ही मानों मेरा जी बन कर मेरे रोम-रोम में प्रकट हो गया है। अपने अभ्यासी बन्धुओं की आध्यात्मिक-प्रगति की गति में सहायता दे सकने में मेरी शक्ति की गति में चार चाँद ही लग गये हैं। लक्ष्य की दिशा में बढ़ने पर मैंने बराबर ही एक हालत यह पाई कि परिवर्तन तो हालत में होता था, जो अनुभूतियों में पगता जाता था और मूल अर्थात् लक्ष्य हृदय को या जी को मथता रहता था।

आपको यह पढ़कर कितना अचरज होगा कि सुनने में तो छोटा, किन्तु कितना महान् परिवर्तन हो जाता है जीवन के मूल्यों में। जब शरीर के मूल तत्वों का ह्रास हो जाता है तो शरीर मर जाता है — मृत्यु हो जाती है और मानव के अन्दर जब यह मूल, सुषुप्ति की चादर फेंक कर ईश्वरीय-लक्ष्य का विकास पा जाता है तो अन्तरात्मा खिल उठती है, जागृत हो उठती है, तभी से ऐसे मानव को आध्यात्मिक-मानव अथवा सन्त कहा जाता है। किन्तु ध्रुव-सत्य यही है कि हमें संत-गति को प्रदान कर पाने एवं मानव को पुनः लक्ष्य अर्थात् ईश्वर-दर्शन की दिव्य-दशा को सुलभ बना देने की क्षमता, मात्र श्री बाबूजी महाराज की प्राणाहुति एवं दैविक प्रशिक्षण में ही सहज हो पाती है। हमें हर प्रकार से संभालती हुई उनकी निगाहों का संरक्षण उनके प्यार की बरक़त ही है। अभ्यास-काल में बहुधा मैंने श्री बाबूजी महाराज को पत्र में लिखा है कि उनके ममतामय नेत्रद्वय मानों पग-पग पर मेरी सार संभाल कर रहे हैं। बहुधा मैंने अनुभव किया है कि उनकी दिव्य-प्राण-शक्ति का प्रवाह अन्तर में पाते हुए मानों अपने में सुषुप्त हुई दैविक-

शक्ति जागकर सबल होती जाती है। फलस्वरूप अन्त:करण में पग-पग पर एवं कण-कण में दिव्य आध्यात्मिक जागरण जाग उठता है। वाह्य व्यवहार में भी अन्तर दशा का ही प्रतिबिम्ब निखर उठता है। जीवात्मा का उद्धार हो जाता है और वह खिल उठती है। मानव का रोम-रोम संवर जाता है दिव्य सौन्दर्य से। अन्तर्मन स्वत: ही दर्शन की प्यास लिये तड़प उठता हैं और मिलन की तरस ईश्वरमय होकर मूल अर्थात् भूमा के देश की स्थिति से जान-पहिचान कर उठती है।

ईश्वरीय-केन्द्र (प्रथम-स्रोत)

आज यह पुस्तक लिखते समय मानों समक्ष में मौजूद कोई दर्शन प्रथम स्रोत का गहन रहस्य स्वयं ही उजागर कर देना चाहता है। ऐसा लगता है कि कोई स्वयं में स्वयं का साक्षात्कार समेटे हुए नज़र आ रहा है। ऐसा लगता है कि इस केन्द्र में कोई महत् शक्ति छुपी हुई है और अपने विराट् रूप को अपने में ही समेट कर स्थिर रह गई है, जिसे 'वह' अर्थात् इस केन्द्र का मालिक ईश्वर बिना वैसा ही हुए दिखाना नहीं चाहता है। कदाचित् यही कारण है कि 'दर्शन' बोलता है 'दर्श' + 'न' अर्थात् मैं किसी को दिखलाई नहीं पड़ता। मेरे मन में पहले यह प्रश्न उठा था कि कैसे और क्यों स्वतः ही मेरे अन्तर में 'दर्शन' की तड़प उत्पन्न हुई तो यही पाया कि हमें सहज-मार्ग साधना में बताया गया है कि ईश्वर सबके हृदय में वास करता है और 'वह' हमें प्यार करता है। यही सत्य हमारी साधना की गति में चार चाँद लगा देता है। इसके अतिरिक्त आन्तरिक सत्संग का अर्थात् ईश्वर के साथ योग बनाये रखने का अभ्यास टूटने न पाये। किसी भी विचार से, कैसे भी व्यवहार से, किसी भी प्रकार से यह लड़ी टूटने न पाये। इस साधना में आप पायेंगे कि कितनी चतुराई होती है हमारे श्री बाबू जी (सद्गुरु) की कि जो व जैसे विचार या व्यवहार अथवा कर्म इस ईश्वरीय-योग में हमारे लिये बाधक होते हैं अन्तर उनका स्वागत न करके उन्हें बराबर बाहर फेंकता रहता है और स्वयं को स्वच्छ रखने लगता है। दूसरी ओर अन्तर-रहनी ईश्वरीय-प्रकाश में समाहित रहने लगती है। हमारे विचार एवं माइण्ड भी न जाने कैसे इसी प्रयास में और ऐसे ही अभ्यास में जुटे रहने लगते हैं। इस तरह से न जाने

कब और कैसे स्वयं हममें उनके दर्शन की तड़प जाग उठती है। मैंने यह भी पाया है कि यह दैविक-चाह तमाम भौतिक चाहों को पी जाती है और जीवित रह जाती है मात्र दर्शन की चाह। यद्यपि दर्शन क्या है, हमें कुछ पता नहीं होता है; कब, कैसे मिलेगा—इसका होश ही नहीं होता है। बस अन्तर पुकारता है और रोम-रोम उसे दोहराता हुआ उस पुकार को स्वयं में सहेजता जाता है। एक दिन जब वह पुकार दर्शन पाने की तड़प में ही लय हो जाती है, तब हमारा रोम-रोम ही बेसुध सा गुनगुना उठता है कि उसको सामने लाओ, क्योंकि अब दर्शन हेतु रोम-रोम आँख बन गया है। हृदय भी पुकार उठता है कि "ओ हृदय में बसने वाले अन्तर्धान हुए 'मालिक' तेरे दर्शन की खातिर मैंने स्वयं अपने बाँध को तोड़ दिया है, अपनी सीमा समाप्त कर दी है और अब मैं कह सकती हूं कि सम्पूर्ण हृदय से मैंने तुम्हें पुकारा है। तेरा आविर्भाव अपने में समेट लेने के लिये मैं बावली हो गई हूं।" बान्धवों! यही तैयारी होती है दर्शन पाने के लिये। उधर परम जीवन सर्वस्व श्री बाबूजी महाराज के नेत्रद्वय हमें बराबर ऐसे ही निहारते रहते हैं, मानों सतत रूप से 'वे' स्वयं हमारा दर्शन कर रहे हैं। कहना न होगा कि उनका ऐसे देखना ही हमारे लिये परम साक्षात्कार की घड़ी ले आता है। एक अनोखा तथ्य इस विषय में मेरे बाबूजी ने मेरे समक्ष तब स्पष्ट किया था कि जब सामीप्य, सालोक्य, सारूप्य एवं सायुज्य-चारों मुक्त-अवस्थाओं की प्राप्ति हो जाती है, तभी जीवन-मुक्त अवस्था भी हमें हमसे अथवा हमारे अस्तित्व के भान से मुक्ति देकर, हमसे मुक्त होकर स्वच्छन्द हो रहती है अर्थात् जीवन-मुक्त अवस्था इतनी सहज-अवस्था में रहने लगती है कि हमारे एहसास में नहीं आ पाती है; तभी आ पाता है हमारे समक्ष ईश्वरीय-देश। अब जब ईश्वरीय-देश में हमें 'मालिक' ने प्रवेश दे ही दिया तो यह तथ्य भी हमारे समक्ष स्पष्ट करके रख दिया कि उसके देश में उसके अलावा कोई अस्तित्व ठहर ही नहीं पाता है; इसलिये उसके देश में मात्र उसका ही पसारा है और हर क्षण

हमें वहाँ उससे मुलाक़ात का ही प्रतीत होता है। उसके देश में ही उसका विराट दर्शन फैला हुआ है। ईश्वरीय-देश की असीमित सीमा में क़दम रखने पर उसका प्रथम दर्शन हमें मिलता है उसकी सर्वव्यापकता के रूप में। कैसा दिव्य नजारा होता है, जिसमें स्मरण भी विलीन हो जाता है 'उसका'। बस, यह एहसास ही हमारा स्वरूप बनकर हमारे पवित्र अहं की भी आहुति लेकर अर्थात् उसकी भी महाप्रलय करके हमें ईश्वरीय-सानिध्यता में लय हुई इस दिव्य-अनुभूति में पागे रहता है कि मैं सर्वव्यापी हूं। मानों उसका यह प्रथम दर्शन उसके दर्शन का साक्षी बनकर हमें बुलाता है कि मैं सर्वव्यापी हूं, मेरा दर्शन कर लो। क्रमशः थोड़े समय में ही जब यह प्रिय अनुभूति प्रथम तो हममें ही लय होती जाती है और जब हम उसमें ही विलय हो जाते हैं तब एक क्षण को ही हमें ऐसा लगता है कि हम वीरान हो गये हैं। कहाँ लुट गया वह परमानन्दमय दिव्य-अनुभूतियों का खज़ाना ? किन्तु उपर्युक्त वीरानेपन की अनुभूति भी मानों हमें अब दैविक विस्मृत अवस्था (फॉरगेटफुल स्टेट) में ही मिलती है, क्योंकि ऐसी गति होश में पाने से तो शायद होश ही उड़ जाते, क्योंकि होश शायद मरण को ही वरण कर लेता। सतत् सँभाल करती हुई मेरे बाबूजी महाराज की ममतामई दृष्टि एवं एक चौकीदार की तरह से हमारी आध्यामिक महत् गतियों की भी सतत् चौकसी करते हुये उनकी ही दैविक-सावधानी को यह पता होता है कि कैसे जियेगी बिटिया (अभ्यासी) इसलिये क्षण भर में ही वीरानेपन की अनुभूति से परे उठाकर ईश्वर-दर्शन की दूसरी दिव्य-स्थिति का नज़ारा हमारी अनुभति की नजर के समक्ष स्पष्ट कर देते हैं। वह भी ऐसे कि लगने लगता है कि मानों अपने ही सर्वव्यापक दर्शन को 'उनकी' ही दिव्य-शक्ति, दिव्य-दृष्टि प्रदान करके अब तक समक्ष में मुखरित करती आ रही थी। अब जब 'मालिक' ने उससे भी श्रेष्ठ-गति हमें प्रदान की और फिर उसमें लय कर दिया, तो फिर यह दर्शन हमारे

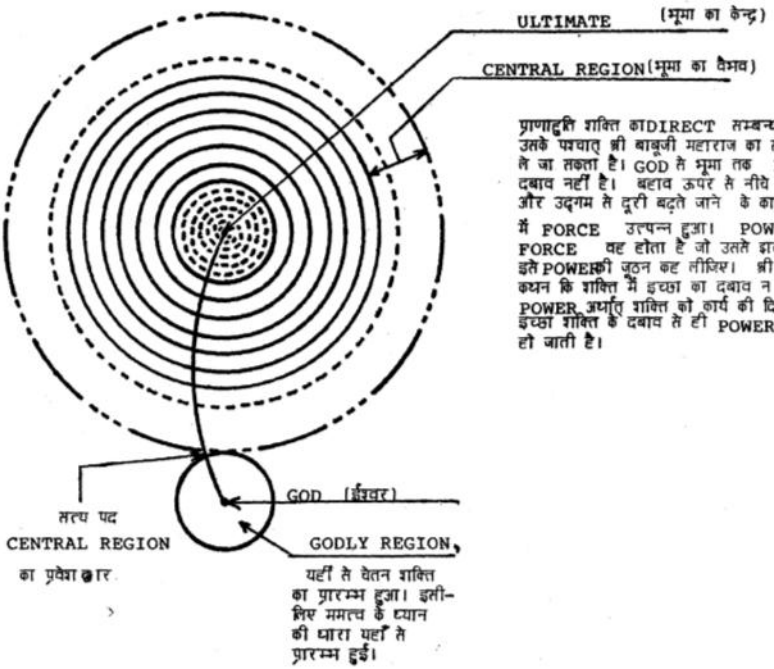

प्राणाहुति शक्ति का DIRECT सम्बन्ध GOD से है। उसके पश्चात् श्री बाबूजी महाराज का संकल्प ही ऊपर ले जा सकता है। GOD से भूमा तक POWER में दबाव नहीं है। बहाव ऊपर से नीचे होने के कारण और उद्गम से दूरी बढ़ते जाने के कारण POWER में FORCE उत्पन्न हुआ। POWER का FORCE वह होता है जो उससे झरता रहता है। इसे POWER की जूठन कह लीजिए। श्री बाबूजी का कथन कि शक्ति में इच्छा का दबाव न पड़े तो POWER अर्थात् शक्ति को कार्य की दिशा नहीं मिलेगी। इच्छा शक्ति के दबाव से ही POWER कार्य में तत्पर हो जाती है।

समक्ष सजीव हो उठा कि ईश्वर सर्व-शक्तिमान है और अब अनुभूति यहाँतक सूक्ष्म हो उठी कि अभ्यासी को यह लगने लगा कि समस्त में उसकी ही शक्ति व्याप्त है। इतना ही नहीं, वह सर्व-शक्तिमान मानों अपने इस दर्शन को स्वयं ही हमारे समक्ष प्रगट करते हुये दर्शन की सार्थकता हेतु बोल उठा कि 'तू मेरे सर्व-शक्तिमान् दृश्य का दर्शन कर।' इतनी ही कृपा नहीं, वरन् बाबूजी ने इस दैविक एवं अद्भुत रहस्य का भी आवरण हटा दिया कि उसका यह दर्शन, ईश्वर-दर्शन नहीं था क्योंकि दर्शन की दो प्रमुख गतियाँ—'सर्वव्यापी एवं सर्व-शक्तिमान्' तो वास्तव में ईश्वरीय-विराट् का दर्शन था, क्योंकि अपने देश में मात्र वही व्यापक है, अन्य की गम्य ही कहाँ है। उस दिव्य-देश में तो समर्थ-शक्तिमय सद्गुरू श्री बाबूजी महाराज ही बालक को स्वयं में लय करते हुये एवं ईश्वरीय-गति में विलीन करते हुये ले चलते हैं—तभी पहुँचा भी जा सकता है उस दिव्य ईश्वरीय देश में। मेरे श्री बाबूजी ने पुनः इसका उल्लेख अपनी पुस्तक में किया है कि "यदि हिम्मत है तो चलो मेरे साथ; 'फूंक चलो घर आपना' की अवस्था के सदृश और पा लो ईश्वर-साक्षात्कार का दिव्यानन्द और तब इससे भी परे 'भूमा' के अद्भुत केन्द्र सेन्ट्रल-रीजन, जिसका प्रवेश-द्वार है 'सत्य-पद', में प्रवेश करो।"

मैंने यह पाया है कि धरा पर कार्यरत दिव्य-विभूति ऐसी ममता-मय अथक परिश्रम करती है कि प्राणी मात्र के हृदय में सामीप्यता की अनुभूति पाकर ईश्वर प्राप्ति की तड़प जाग उठती है। इतने पर भी उन्हें चैन कहाँ होता है। अभ्यासी को दिव्य-देश की सैर का सौभाग्य देकर वे उसे ईश्वरीय - विराट की परम 'स्थितियों का दर्शन एवं अनुभूति दिलाते हुए उस परम - शक्ति में लय करते चलते हैं। इसका महत् कारण भी है कि उस दिव्य - देश में दिव्य शक्ति को पाये बिना ठहरा भी कैसे जा सकता हैं। इतना ही नहीं उनके आँचल की छाँव में

इस दिव्य - देश की यात्रा में हर पल मैंने यही पाया है कि अपने इस दैविक-संकल्प को पूर्ण करने के लिये वे इतने तत्पर एवं संलग्न रहते हैं कि अभ्यासी की उन्नति में एक क्षण की भी देरी नहीं हो पाती है। उनकी तत्परता एवं अपने अभ्यासी बालक के प्रति प्रेम का यह अलौकिक नमूना अपने में अकेला ही है। ईश्वरीय-देश की यात्रा मे ईश्वरीय -विराट का दर्शन देते हुए एवं उस दिव्य-अवस्था में भी लय करते हुए जब मुख्य केन्द्र - विन्दु के समक्ष ले जाकर खड़े हो जाते हैं उस समय की उनकी वह तत्परता मुझे भूल नहीं सकती है। वह दिव्य-दृश्य आज भी लेखन के समय मानों समक्ष में फैल जाता है। कवि सूरदास के गीत में भीष्म पितामह के लिये श्रीकृष्ण भगवान की उतारी गई वह अलौकिक छवि और उनकी वह तत्परता कि :

"कर धर चक्र चरन की धावन, नहिं बिसरत वह बान।"

आज श्री बाबू जी की दैविक-तत्परता के रूप में पुनः सजीव हो उठती है। भला मैं कैसे लिख पाऊँगी और किस प्रकार उस छवि को लेखिनी में भरकर उतार पाऊँगी समस्त को परमानन्द में भर देने के लिये, यह समझ में नहीं आ रहा है। फिर भी अन्तर की दृढ़ता बोल रही है—तू लेखिनी तो उठा और मैं लिख रही हूं कि उस समय जब अचानक मेरा होश, होश में आया तो लगा कि मेरे बाबू जी कह रहे हैं—" देख, प्रियतम ईश्वर का साक्षात्कार कर, 'वह' तेरे समक्ष में विद्यमान है।" और मैं एक क्षण के लिए ही विभोर होकर तब इतना ही समझ पाई थी कि : 'आना मुश्किल था सीमा में उनको', इसीलिये 'मिला असीम में देखा मुझको।' अर्थात् साक्षात्कार के समय एक क्षण के लिये ही साक्षात्कार हुआ था, किन्तु यह होश किसे था कि किसका साक्षात्कार पाया है, परन्तु तत्क्षण ही मानों मेरे मालिक ने मुझे यह एहसास दिया कि मुझे यह लगा कि उन्होंने मेरे कुल अस्तित्व को स्वयं

में लय करके मानों लय-अवस्था की सीमा का भी बाँध तोड़ दिया है। मानों उन्होंने लय-अवस्था को भी उसकी सीमा से मुक्त कर दिया था और मैं भला क्या लिख सकूंगी इस दैविक गहन अनुभूति के विषय में। बस इतना ही उन्होंने मुझे नाजुक सा भान दिया था कि लगा उन्होंने मुझे हृदय में समेट कर स्वयं में लय करके मानों ईश्वरीय-केन्द्र में गोता दे दिया और उस परम दिव्य ईश्वरीय - शक्ति के केन्द्र में डुबोकर निकाल लाये। ऐसा क्यों किया था? यह भेद मेरे समक्ष उन्होंने अब स्पष्ट किया है—वह यह कि—'जानत तुमहि तुमहि हो जाई।' वाली हालत न हो जाये क्योंकि बिना सद्गुरु के ममत्व एवं कृपा के उस दिव्य ईश्वरीय-शक्ति के केन्द्र से वापस लौटना असम्भव है। जीवित रहते कौन उस परम शक्ति को सहन कर पायेगा। दर्शन में लय होकर बराबर की दो शक्तियाँ क्षण भर स्थिर नहीं रह सकती हैं। ईश्वर एक है दो नहीं हो सकता है। कदाचित इस दिव्य-दृश्य की दिव्यानुभूति पाकर संत कबीर का अंतरमन पुकार उठा था कि—

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूं पाँय।
बलिहारी गुरु आपकी, जिन गोविन्द दियो मिलाय॥"

बस 'दर्शन' का अर्थ 'दर्श + न' मेरे समक्ष स्पष्ट हो गया और तभी श्री बाबू जी ने ईश्वर - प्राप्ति की ही बात कही है, मात्र ईश्वर-दर्शन की नहीं, यह भेद भी अब समझ में आ गया है। मैंने इस परम-स्थिति के बारे में कुछ लिख पाने का बचकाना प्रयास भर किया है। यह भी शायद इसीलिए सम्भव हो सका है कि 'वह' सब को प्यार करता है।

卐

साक्षात्कार

युग-पटल पर लिखित युग का ब्यौरा तो युग के करवट लेते ही ओझल हो जाता है, किन्तु सहज - साधना को अपनाने पर रचना के साथ ही मानव - हृदय में विद्यमान ईश्वर का साक्षात्कार पाने के लिए हृदय जब ठान लेता है तब ईश्वरीय - ब्यौरा एहसास के रूप में हृदय में उतरना शुरू हो जाता है, जिसे हम आध्यात्मिक दशाओं का नाम दे देते हैं। आध्यात्मिकता के विषय में युगों से सुनी हुई बातें समय के चल-चित्रों के समान आज भी समक्ष में आकर स्पष्ट रूप से बोलती नजर आती हैं कि हम बिन्दु हैं, वह सिन्धु है, हम आत्मा हैं, वह परमात्मा है। इस अमृतवाणी का श्रवणामृतपान भी हमें बराबर ही मिलता रहता है।

'प्राणिमात्र में ईश्वर का वास है' यह सत्य संतों ने साधना की रस-धारा में आत्मा को डुबोकर ही अनुभव किया होगा और वही अनुभव उन्होंने लेखिनी द्वारा ग्रन्थों में लिख डाला और उपदेशों द्वारा मानव तक पहुँचाया। किन्तु हमारा प्रयास यह न रहा कि हम स्वयं कुछ करके बोलते और इस अनुभवगम्य परमानन्द - रस का पान करने का हौसला प्राप्त करते। इतना ही नहीं, जो कुछ भी संत-महात्माओं ने कहा, उसमें भी हमने स्वयं के विचारों का पुट देकर उसे लिखा और दूसरों को उपदेश देकर अथवा लेखिनी द्वारा उसे अपनी तरह से व्यक्त कर पाने का प्रयास किया। हम यह न समझ पाये कि आत्म-अनुभव स्वयं की साधना द्वारा ही अपने में ग्रहण किये जा सकते हैं, परन्तु विचारों द्वारा उन्हें समझा या समझाया नहीं जा सकता है। फलतः स्वयं समझने और सबको समझाने की कोशिश में भिन्न के विचारों का

इतना प्रवाह मिला दिया कि मूल आध्यात्मिक दशा क्रमशः गौण होते होते लुप्त प्राय: होती चली गई और उजागर रह गया मात्र अपने विचारों का ही रंग जो सब पर छाता रहा। धीरे-धीरे एक दिन वह भी आ गया कि विचारों पर अन्य विचारों का ताना-बाना चढ़ता गया और मूल अर्थात् आध्यात्मिकता अपने में ही सिमट कर चुप हो गई। अनुभव की जगह उपदेशों ने ले ली और साधना अपने प्रिय साध्य ईश्वर के ही चरणों में लिपटकर अकेली ही रह गई। इसका प्रभाव फिर यह बढ़ता गया कि मानव विचारों के ताने - बाने ने स्वयं अपने-अपने स्वरों में ही अलापना आरम्भ कर दिया। अन्ततः मूल अर्थात् आध्यात्मिकता के अन्तर्धान हो जाने के कारण साधना पक्ष भी ओझल होता गया और जन - मानस उपदेशों और नश्वर चमत्कारों की कठ-पुतली बन कर रह गया। अन्यथा बातों को ग्रहण न कर पाने के कारण आत्मा ने स्वयं के समक्ष आवरण डाल लिया। मीरा की भक्ति एवं सन्त कबीर की वाणी में तो यह आत्मा 'राम की दुल्हनियाँ' थी, फिर अन्यथा को कैसे ग्रहण करती, अतः घूंघट की ओट कर ली; तभी तो जब साक्षात्कार के दैविक सौभाग्य ने कबीर के भाल पर सतीत्व का शाश्वत् टीका लगाया तो उन्होंने आत्मा को ही आवाज दी कि 'घूंघट के पट खोल री, तोहे राम मिलेंगे'। आज हमारे श्री बाबूजी महाराज का कथन चरितार्थ हो उठा है कि दिव्य शक्ति का प्रवाह हृदय में पाकर ईश्वर को मात्र समझा ही नहीं जा सकता है, वरन् पाया भी जा सकता है।

प्रश्न यही रह जाता है कि युग तो हमेशा ही मानव को पुकारता आया है और समय सदैव ही चेतना देता आया है, किन्तु कौन किसकी सुनता। मानव यही पुकारता रहा कि समय बदल गया है। मानव-विचारों में आत्मा के स्वर नहीं समा सके, इसलिये परमात्म-शक्ति

मौन प्रायः हो गई। समय सब कुछ देखता रहा, युग भी बिलखता हुआ भविष्य की शुभ कामना में प्रतीक्षारत हो गया, किन्तु इस विपरीत अवस्था में दिव्य-ध्यान को ध्यान में रखने का ज्ञान कौन देता ? अब प्रश्न यह उठता है कि युग भी क्यों न सो गया। समय भी अचेतन क्यों न हो गया ? तो सुनिये, इनका अपना कोई रूप, रंग अथवा कोई पृथक अस्तित्व नहीं है। अपना कोई मस्तिष्क एवं विचार-धारा नहीं है और न बुद्धि के हाथों बिका हुआ, अहं में डूबा मानव, पुतले के सदृश है। यह तो जो अर्थात् ईश्वर का था सो है। अतः जब भी पृथ्वी ही नहीं वरन् समस्त वातावरण ही परमानन्द-रस से शुष्क होता हुआ वीरानेपन की ओर ढलने लगता है, तब मानव-मनस् दैविक-शक्ति का अवलम्बन न पाकर निर्बल एवं असहाय सा होकर मनमानी करने पर तुल जाता है। अन्तर्मन का ईश्वरीय-प्रकाश भी जब धूमिल पड़ने लगता है, तभी युग के पुनः करवट लेने का समय आ जाता है। जानते हैं क्यों ? क्योंकि मानव के अन्दर ईश्वर का वास है, सृष्टि-कर्त्ता का विराट्-हृदय प्राणियों के प्यार पाने के लिये तरस उठता है। युग, जो सृष्टि की आत्मा है, परमात्मा का पसारा है, इसमें ईश्वरीय रस का प्रवाह कम हो जाने पर आज जब वातावरण में विचित्र प्रकार की ऊबन पैदा हो गई है, फलस्वरूप इंसानियत हैवानियत में बदलने लग गई है; मन एवं मस्तिष्क में इतना उथलापन असंतोष एवं असन्तुलितपन समा गया है कि आत्म-हत्या की प्रवृत्ति बराबर बढ़ती ही जा रही है। विकारों की उत्पत्ति अब बढ़ते-बढ़ते अपनी सीमा को छूने लगी है, तभी तो युग को सादगी में करवट देना, समय को संवारना एवं मानव को आत्मिक-सुख से सजाना प्रकृति की ही आवश्यकता बन गई है। आज जब युग-महापुरुष का प्राकट्य धरती की महान् आवश्यकता बन गया तो पृथ्वी पर महाशक्ति को उतारने के लिए महात्मा रामचन्द्र जी महाराज (फतेहगढ़) इस दैविक-आवश्यकता एवं इच्छा की पूर्ति कर

पाने में अपनी अथक साधना द्वारा समर्थ हुये। इसी कारण वे दैविक-उपाधियों से विभूषित होकर आदि-गुरू समर्थ सद्गुरू श्री रामचन्द्रजी महाराज (लाला जी) के नाम से धरा पर प्रसिद्ध हो गये। आज उनकी कृपा से ही मेरी अनुभूतियों को निज की भाषा प्रदान करने वाले मेरे बाबूजी महाराज हैं; बोलने वाली है रियैलिटी (वास्तविकता) और मात्र उतारने वाली है मेरी यह लेखिनी।

आज अपनी प्राणाहुति-शक्ति का प्रवाह देकर वातावरण को ईश्वरी-रस से सराबोर कर रही श्री बाबूजी महाराज की परम-शक्ति, युग की आत्मा में सत्-युग अर्थात् ईश्वरीय-युग के जागरण का सन्देश भर रही है। इसीलिये आज मुझे यही आशा है कि मेरे साथ प्राणिमात्र में यह प्रतीति उभरती आयेगी कि ईश्वर-प्राप्ति सहज-मार्ग द्वारा सहज हो गई है। उनके द्वारा पाया ईश्वरीय-शक्ति का प्रवाह मानव मन में सत्संग अर्थात् ईश्वर के साथ का सेंक, अन्तर के दोषों को पिघला कर बाहर फेंकता हुआ अन्तर को दिव्य-नूर से भर देने में सक्षम है। कदाचित् 'मालिक' ने मेरी इस पुस्तक के माध्यम से यह सत्य भी उजागर कर दिया है कि 'वह जो सबको प्यार करता है' आ गया है। युग करवट तो लेता है, किन्तु स्वयं का शृङ्गार नहीं कर सकता है, पृथ्वी का बोझ हल्का नहीं कर सकता है और न समय को दैविक-चेतना प्रदान कर सकता है। सृष्टि को ईश्वरीय-शक्ति से महकाने हेतु, मानव-प्रकृति को दैविक-प्रकृति में बदल देने हेतु, सृष्टि-कर्त्ता आदि शक्ति की शक्ति पर आधिपत्य पाये हुए दिव्य विभूति का आविर्भाव धरा पर हो गया है।

अनवरत प्रतीक्षा के पूर्ण हो जाने से आज वातावरण में वह दैविक सुगन्ध क्रमशः फैलती हुई मानव-मनस् को मुग्ध कर पाने का प्रयास

कर रही है। कैसा अचम्भा है कि मात्र इच्छा-शक्ति द्वारा दैविक-शक्ति का प्रवाह देकर श्री बाबूजी महाराज (शाहजहाँपुर यू० पी०) जन मानस को अपनी दैविक-सादगी के आकर्षण से आकर्षित कर रहे हैं, मानों स्वयं ईश्वर ही इनके रूप में सबको प्यार करने के लिए उतर आया है। कदाचित् इस सुन्दर दृश्य का दर्शन पाकर ही मेरी लेखिनी गुनगुना उठी थी कि—

"ख़ुदा को ख़ुद से ही जब प्यार मिल सका न था,
उतारा इनको, सलोना सा रूप ख़ुद का था।"

कैसा दैविक-चमत्कार हुआ है कि समर्थ सद्गुरु श्री लाला जी की अनन्य-भक्ति के आगे स्वयं 'भूमा' भी झुक आया है। फिर आज 'जो सबको प्यार कर रहा है' उनका साक्षात्कार पाने की चाह के लिये क्या कहा जाये।

卐

"दिल पर निगाह अधिक अभ्यास हो जाने पर ठहरा नहीं करती, इसलिये कि हमने दिल का बिन्दु किसी Plane of Religion में जाने के लिये बनाया था, इसलिये जरूरी नहीं रहता कि दिल ही पर बार-बार जबरदस्ती निगाह को कायम करें। शुरू ध्यान दिल पर किया, फिर वह जिस Plane में स्वयं चला जाये, वहीं पर रखें।"

× × ×

"योगी की तारीफ यही है कि मान में खुश न हो और अपमान में नाखुश न हो। काम का automatically होना, यह ईश्वरीय गुण है और ऐसी दशा में संस्कार नहीं बनते। जब यह भी अन्दाज खत्म हो जाये कि काम automatically हो रहा है, तब असली हालत है।"

—कस्तूरी को लिखे गये श्री बाबू जी के पत्र से उद्धृत

परम मिलन

अब मुझे लग रहा है कि मेरे लेखन के द्वारा आप सबमें इस दिव्य मिलन के दिव्यानन्द की प्राप्ति कर पाने के बारे में जानने की आन्तरिक-जिज्ञासा उमड़ आई होगी। इस पुस्तक के पढ़ने के बाद आपके अन्तर में कोई अधूरापन न पनप सके, इसलिये साक्षात्कार का परम सौभाग्य पाने के बाद ही इस परम अलौकिक एवं गहनता की सीमा से परे आगे परम-मिलन के विषय में मैं लिखने का प्रयास कर रही हूँ। अपने बाबूजी महाराज की कृपा-शक्ति का सम्बल पाकर, उनके ममत्व की छाया में बैठी, इस दिव्य रहस्य को भी स्पष्ट करने के लिये मेरी यह लेखिनी मचल रही है। कैसी भव्य विडम्बना है कि मिलन तो क्षण मात्र का ही था, किन्तु श्री बाबूजी की तत्परता थी कि कहीं उनकी यह बिटिया उनके हाथ से छूट कर इस दिव्य-मिलन में ही समा कर न रह जाये और उनके दिये हुए काम के लिये निष्क्रिय (इनऐक्टिव) न हो जाये। बस, मुझे तो उस क्षण की अद्‌भुत अनुभूति को ही लेखिनी-बद्ध करना है। यद्यपि मैं जानती हूँ कि मुझे इस परम एवं सतत् स्वतन्त्र-गति को प्रदान करने व ले उन दैविक-क्षणों को लेखिनी के माध्यम से बन्धन में लाने का प्रयास सूर्य को दीपक दिखलाने के समान ही है, फिर भी मुझे यह विश्वास है कि वे दैविक-क्षण स्वयं ही हम भूतल-वासियों को प्रसाद रूप में कुछ अवश्य बख्श देंगे।

तो फिर लीजिये, कुछ सुन ही लीजिये। वास्तव में तो ईश्वर मिलता नहीं है, वरन् श्री बाबूजी हमें उस दिव्य-ईश्वरीय केन्द्र में कुछ इस तरह से प्रवेश देते हैं कि हमें लगता है कि ईश्वर में हम इस

तरह से विलीन हो गये हैं कि हम में लगातार यह अनुभूति ज़िन्दा रहती है कि हम ईश्वर में ही लय होते जा रहे हैं। यद्यपि इस परम-मिलन की हालत को इस तरह कहना और भी स्पष्ट होगा कि ईश्वरीय-शक्ति ही हमारे पूर्ण अस्तित्व को स्वयं में मिला रही है। शायद इसीलिये इसे 'परम-मिलन' कहा जा सकता है। उस परम-मिलन की स्थिति के विषय में अब मुझे यह भी स्मरण आ रहा है कि श्री बाबूजी हमें ईश्वरीय-शक्ति के केन्द्र की तह की कशिश के स्पर्श से दूर ही रखते हैं, अतः हम वहाँ के स्पर्श तक की भी याद नहीं रख पाते हैं, किन्तु तब भी ऐसा तो हो ही जाता है कि इस दिव्य-अवस्था की बक़ा (परिपक्व अवस्था) हमें ईश्वर के दरबार से मिलती है। तब यदि कोई ईश्वर का नाम भी लेता था, तो यही लगता था कि मानों कोई हमें ही बुला रहा है। ऐसी दिव्य-अनुभूति का प्रसाद मुझमें यह दिव्य-विभूति श्री बाबूजी महाराज ही उतार लाये हैं। एक भेद दर्शन की इस परम अवस्था में न ठहर पाने का मेरे समक्ष आज और भी स्पष्ट हो गया है कि 'दर्शन' का अर्थ तो है उस परम-शक्ति का समक्ष में खुल (ओपेन) जाना; तो दर्शन पाने वाला उसमें समा ही जायेगा, क्योंकि उबर पाना तो असम्भव होता है, इसलिये जब 'मालिक' हमारे भाग में 'साक्षात्कार' ले आते हैं, तो दर्शन को खुद में लय कर के ही उस परम-मिलन की दशा प्रदान कर देते हैं। अब तो आप समझ गये होंगे कि वह अर्थात् ईश्वर सबको कितना प्यार करता है, किन्तु कौन उस दिव्य प्यार तक पहुँचा कर उसमें परम-मिलन दे सकता है? मैं तो यही कहूँगी कि यही प्रत्यक्षता है इस सत्य की, कि जिसका लक्ष्य प्राणिमात्र को आध्यात्मिकता में शिखर तक पहुँचाना है और इतना ही नहीं बल्कि इस दैविक-व्रत को पूर्ण करना है कि प्राणिमात्र ही उनके संकल्प में समाये हुए हैं, हमारा संकल्प चाहे उनके संकल्प में खरा उतरता हो या न हो, तो भी वह दिव्य-विभूति ही दिला पाती है।

यह परम-मिलन। एक बार किन्हीं अभ्यासी भाइयों ने श्री बाबूजी से प्रश्न किया कि—"बाबूजी ! ईश्वर सबके अन्दर है, फिर हम उसका सतत् स्मरण या ध्यान क्यों रक्खें ?" श्री बाबूजी महाराज ने उत्तर दिया कि "भाई, ईश्वर तो सबके अन्दर है, लेकिन हम ईश्वर के अन्दर नहीं हैं, इसलिये हमें यह ध्यान सतत याद रखना होता है।" मुझे लगता है कि इसीलिये अभ्यास काल में मैंने यही पाया कि जैसे-जैसे हमारा ध्यान परिपक्व अवस्था को प्राप्त होने लगता है, वैसे ही वैसे अन्तर में ईश्वरीय-सामीप्यता के सेंक की अनुभूति मिलने लगती है। ऐसा लगता है मानों यहीं कहीं हमारे अन्दर वह विद्यमान है और बस अब हमें उसके प्रादुर्भाव का पता मिलने ही वाला है। ध्यान की यह दृढ़ता प्राप्त होते ही एक दिन अचानक ही हम ईश्वरीय-ध्यान में प्रवेश पा जाते हैं। इस हालत में मैंने श्री बाबूजी को कई बार यह लिखा था कि 'लगता है कि मेरी खुदी का बन्धन टूट गया है और अब मैं ईश्वर में ही लय हुई रहती हूँ। इतना ही नहीं, मानों वहीं की दैविक श्वाँस से ही मेरा यह जीवन जी रहा है। क्या आप यह सत्य स्वीकार कर सकेंगे कि हम कहीं ऊपर श्रेष्ठ गति में लय हुए रह रहे हैं और स्वयं अपने शरीर को धरा पर चलता-फिरता देखते हैं ? कई बार मैंने ऐसा एहसास किया है कि अपने नाम की पुकार सुनकर मानों मुख स्वतः ही उधर मुड़ जाता है अथवा यों कहें कि समस्त भौतिक कार्य एवं कर्त्तव्य बखूबी स्वतः ही पूर्ण हो जाते हैं। आप यही कहेंगे कि यह परम-स्थिति ईश्वरीय-जादू है, जो सिर पर चढ़कर बोलता है। किन्तु अनुभूति तो कुछ थी ही नहीं, फिर वह बोलेगी भी तो कैसे, मैं नहीं जानती हूँ। बस एक ही दृढ़ता से मेरे हाथ लेखिनी को सँवारे बैठे हैं और मेरी आँखें उसके द्वार पर लगी हुई हैं कि इस दैविक-अनुभूति को अपनी नूर-चश्मी (बिटिया) के लिये एक बेसोच की हालत में इस हालत को प्रदान करने, फिर उसमें पैराने वाले मेरे 'मालिक' बाबूजी अवश्य ही अपने ही हस्त-द्वय से कुछ तो अवश्य लिख देंगे।

जब ईश्वरीय-जादू रूपी यह परम-स्थिति प्राप्त होती है, तो सबव की गन्ध को सूँघने वाली नासिका दैविक-वातावरण की गन्ध में मस्त हो जाती है तो धरा पर रहने वाला प्राणी दिव्य-देश का वासी होकर वहीं लय रहता है और उसका नाम एवं रूप जो धरा ने उसे प्रदान किया था, उसके लिये नष्ट सा हो जाता है। न जाने कैसे वह इस पृथ्वी पर सारे कार्यों को पूर्ण करता हुआ इस तरह से विचरण करता है कि न तो स्वयं वह और न अन्य कोई इस सहज-गति के रहस्य को पकड़ पाता है। जानता मात्र वही है, जो इसे इस दैविक-अवस्था में सजा कर, दिव्यता में निखार कर, दर्शन में विलीन करके परम-मिलन को दिव्य-दशा प्रदान करता है। आज 'वह' सबको ही अपने दैविक-प्यार की वर्षा में भिगो रहा है। कौन समझेगा इस गहन पहेली को; मैं तो यही कहूँगी कि जो मर कर भी जी रहा है, वही शायद इसे समझ पायेगा।

अब यहाँ दर्शन का जिक्र है तो दृष्टि की भी चर्चा होना नितान्त आवश्यक है। दृष्टि के बिना दृश्य को निहार पाना असम्भव ही होता है। अनुभूति के अनुसार ही 'मालिक' से हमें दृष्टि मिलती है। दैविक-दृष्टि के द्वारा ही उसकी दिव्यानुभूति को लेखनी द्वारा उतारा जा सकता है। आज पुनः एक बार मेरा अतीत अर्थात् मेरा अभ्यास-काल मेरे समक्ष लाकर ही मानों बाबूजी महाराज ने लेखिनी को उठाने की अनुमति प्रदान कर दी है। उनका यह कथन कि "लिखना है तो प्रैक्टिकल-गति के बारे में ही लिखो, बोलना है तो प्रत्यक्षता को ही बोलो, सोचना है तो अपनी अन्तर्गति की अनुभूति को ही सोच में भर लो।" यही मानों दिव्यानुभूति का प्राण है। उनके इस कथन का स्मरण ही मेरी इस लेखिनी के द्वारा सजीवता एवं साक्षी रूप का ही वर्णन करेगा। अब आध्यात्मिक क्षेत्र में अन्तर्दृष्टि की विविधताओं के

ही वर्णन करने के प्रयास रूप में लेखिनी उठ गई है। हाँ, तो दृष्टि का प्रारम्भ वाह्य-दृष्टि से ही होता है। वाह्य-दृष्टि में संसार अंकित है, क्योंकि जिधर देखो संसार का ही पसारा है, भौतिकता का ही बोल-बाला है, यही कारण है कि वाह्य-दृष्टि का प्रभाव हमारे ध्यान को वाह्य में ही बिखेरे रहता है। इसीलिये हमें वाह्य में जो भी बातें ध्यान में रखने को बताई जाती हैं, उनका संचालन वाह्य-दृष्टि ही करने लगती है और सारे निर्णय भी वही लेती है। उदाहरण स्वरूप चाहे कोई व्यक्ति अच्छा भी हो परन्तु वह यदि हमारी इच्छानुसार अथवा हमारे स्वार्थ के अनुसार कार्य नहीं कर पाता है तो हम उसकी अच्छाई को न देख कर उसे अच्छा मनुष्य नहीं कहते हैं, क्योंकि वाह्य-नेत्रों का सम्बन्ध हमारे वाह्य में ही सीमित होता है अर्थात् हम भौतिक रूप में ही केन्द्रित रहते हें। मैंने पाया है कि सोते-जागते विचार हमें वाह्य में ही भटकाते रहते हैं। विचार भी क्या करे, हम उनमें जैसा रग भरेंगे, वैसा ही तो चित्र हमें दिखायेंगे। श्री बाबूजी महाराज से एक अभ्यासी ने जब यह प्रश्न किया—'बाबूजी, हमें कैसे पता चले कि हमारी आध्यात्मिक उन्नति हो रही है', तो बाबूजी का उत्तर यही था कि 'विचारों की रंगत को पढ़ो क्योंकि पहले विचारों की रंगत ही बदलती जाती है। विचारों को जहाँ वाह्य भलाई-बुराई में आनन्द आता था, वहाँ फिर ईश्वरीय-चर्चा में आनन्द आने लगता है। फल-स्वरूप ध्यान स्वत: ही वाह्य से हट कर अन्तर में विद्यमान ईश्वर की ओर मुड़ने लगता है और वाह्य-नेत्र बार-बार बन्द होकर मानों वाह्य-दृष्टि को समेट कर अन्तर में खींच ले जाना चाहते हैं।' इसलिये श्री बाबूजी महाराज ने ध्यान अन्तर में रखने के लिए कहा और दृष्टि को विचार द्वारा अन्तर में स्थित ईश्वरीय - प्रकाश में डुबोते हुए अपने ध्यान को ईश्वर के ध्यान में स्थित रखने को बताया है, जिससे हमारे विचार वही पावन रंग लेना शुरू कर दें, जो हमें

ईश्वर के निकटतर लाने में समर्थ हैं। श्री बाबूजी द्वारा बताये सहज-मार्ग में बस इतना सा ही ध्यान रखना आध्यात्मिकता में गजब ढा देता है। बार-बार इस अभ्यास में लगे रहने से एक दिन दृष्टि अन्तर्मुखी हो जाती है। अन्ततः अन्तर में ही बस जाती है और वाह्य-दृष्टि मानों हमसे जुदा होकर अकेली ही वाह्य के कार्य-कलापों की जिम्मेदारी सँभाल लेती है। तब वह हमारा अर्थात् हमारे अहं से, निर्णय न माँगकर स्वयं ही सांसारिक कार्यों का संचालन करती है। फलस्वरूप ऐसी रहनी जब सुदृढ़ हो जाती है, तब क्रमशः हमें संस्कारों से परे इस गति का अनुभव होने लगता है कि गुण-गुण में ही बरत रहे हैं और हमारा ध्यान एवं दृष्टि अन्तर में लय रहते हुए ध्यान में मग्नता को प्राप्त करती जाती हैं। इधर अन्तर में अन्तर्दृष्टि तत्पर रहती है, अभ्यास में बदलती हुई मनःस्थिति को पढ़कर हमें बताती जाती है और तभी हम उसे बाबूजी को लिख पाने में सफल हो जाते हैं। यह तो हम सभी जानते हैं कि वाह्य-दृष्टि से सांसारिक कर्म एवं व्यवहार चलते हैं और अन्तर्दृष्टि द्वारा आत्मिक-गतियों के अनुभवों की पकड़ होती जाती है। एक आवश्यक तथ्य यह भी लिखना है कि अन्तर्दृष्टि ईश्वर-प्रकाश से प्रकाशित होती चली जाती है। सहज-मार्ग साधना में हृदय में ध्यान को ईश्वरीय-प्रकाश में डुबोये रखने के अभ्यास से अन्तर्दृष्टि उसमें स्थिर हो जाती है। इतना ही नहीं, क्रमशः अन्तर्दृष्टि तब से ज्योतिर्मय हो उठती है और उसे ईश्वरीय-सामीप्यताकी अनुभूति बराबर मिलना प्रारम्भ हो जाती है। इसका परम-लाभ हमें ऐसा भी प्राप्त होता है कि ज्योतिर्मय-अन्तर्दृष्टि अन्तर में जिधरभी जाती है, उधर ही ईश्वरीय-प्रकाश फैल जाता है। यहाँ तक कि एक दिन ऐसा भी आता है कि आँखें बन्द करने पर हमें ऐसा लगता है कि हमारा कुल सिस्टम ही ईश्वरीय-प्रकाश से जगमगा उठा है। बस, अन्तर्दृष्टि का कार्य

भी यहीं पर समाप्त हो जाता है, क्योंकि इस दिव्य ज्योति की तपिश पाकर अन्तर के आवरण पिघल-पिघल कर समाप्त हो जाते हैं। इतना ही नहीं, एक दिन ऐसा भी आता है कि आत्मा का प्रकाश स्वतः ही सतत रूप से हमारे अन्तर्मन को प्रकाशित करने लगता है। अन्तर्मन के प्रकाशित होते ही बुद्धि, चित्त एवं विचार सबमें ही आत्मिक-गति का एहसास हमें प्रकाशित रूप में मिलने लगता है, तब हम अपने श्री बाबू जी को पत्र में अपनी दशा के बारे में लिखने लगते हैं कि 'मेरी दशा क्या है? लगता है स्वयं आत्मा ही मेरे रूप में सजीव हो उठी है एवं यह एहसास देने लगती है कि वायु मुझे स्पर्श नहीं कर पाती है, अग्नि की तपिश मुझे तपा नहीं पाती है। इतना ही नहीं, पृथ्वी और आकाश तत्व से परे मानों आवरण विहीन खड़ी मैं, भूल की अवस्था को भी भूली हुई आत्मस्वरूप हो गई हूँ, मानों मैं परमात्मा की ओर मन का आँचल फैलाये उसमें ही विलीन हो जाने की सहज राह की ओर ही प्रगति पा रही हूँ। तभी मैंने यह अनुभव भी पाया था कि मानों आत्मा स्वयं ही मेरी दृष्टि बन गई है और परमात्म-तत्व की ओर टकटकी लगाये उधर ही खिंचती चली जा रही है। श्री बाबूजी के कथनानुसार 'प्रेम प्राप्त हो जाने पर ग्रहणशीलता बहुत बढ़ जाती है', इसलिये ऐसा लगने लगता है कि मानों आत्मिक-दृष्टि परमात्म-शक्तिमय होकर उस शक्ति को आत्मसात् करती जा रही है। परमात्म-शक्ति में लय हो जाने के लिए कौन दृष्टि ऐसा परम-सौभाग्य पा सकेगी। जो अलौकिक-दृश्य को निहार सकेगी। प्रेममय हो जाने के कारण इस अलौकिक-दृश्य को सम्पूर्ण ही आत्मसात् कर लेने का बीड़ा उठाये मात्र आत्मिक-शक्ति ही समर्थ होती है। एक विशेषता जो मैंने आत्मा से परमात्म-मिलन की परम-गति में पाई थी वह यह है कि न जाने क्यों मेरे बाबूजी मेरे 'मालिक' मिलन में अति शीघ्रता प्रदान करते हैं, अतः वह आत्मिक-घड़ी भी शुभ हो उठती है, जब आत्मा और परमात्मा के

मिलन को सहेजते हुए, आत्मा, आत्मिक-दृष्टि के सहित परमात्मा में लय हो जाती है या यों कहें कि परमात्ममय हो जाती है, क्योंकि इसकी पहुँच यहाँ तक ही थी। एक अलौकिक भेद की उज्जवलता मैंने यहाँ यह भी पाई कि प्राणिमात्र की आत्मा को संचालन परमात्मा-शक्ति से ही मिलता है। यही कारण है कि इस श्रेष्ठ परमात्म-गति की प्राप्ति हो जाने पर ही हममें साँचे भ्रातृत्व (ब्रदरहुड) की दशा स्वतः ही रम जाती है। तब न कुछ सोच होता है और न अभ्यास का ख्याल आता है कि सबको अपना मानो बल्कि यह सत्य तब हमारे अंतस् में स्वयंमेव उज्जवल हो जाता है कि हमें कोई चाहे कितना ही कष्ट क्यों न पहुँचाये, उसके लिये भी परायेपन का एहसास हम स्वयं में ला ही नहीं सकते हैं, क्योंकि इस गति को प्रदान कर मानों श्री बाबूजी हमारे समस्त अन्तःकरण को 'अपनाइत' की चादर से ढँक देते हैं।

अब आगे उन्नति जब सूक्ष्म-दशा की अनुभूति को समक्ष में फैलाना आरम्भ करने लगती है, तो लगता है कि क्रमशः यह अपनायत की चादर भी झीनी पड़ना शुरू हो जाती है, क्योंकि अपनायत की दशा तब तो हमारे कण-कण में बस जाती है और यह ऐसी सहज-अवस्था पा लेती है कि हम इस दशा के एहसास को भूलने लगते हैं, क्योंकि अब आगे समक्ष में व्याप्त वर्त्तमान आध्यात्मिक-गति सूक्ष्म से भी सूक्ष्म होने के कारण ऐसे एहसास का भी बोझ वहन नहीं कर पाती है। अब हमारे सामने एक सच्चाई यह भी होती है कि किसी एहसास के सहित हम सूक्ष्मातिसूक्ष्म हिरण्य गर्भ की दशा में प्रवेश नहीं कर सकते हैं अथवा यों कहें कि वर्त्तमान दशा का एहसास अब आने वाली सूक्ष्म-दशा से भारी होता है, इसीलिये समक्ष में व्याप्त इस दैविक-हल्केपन का साम्राज्य, अर्थात् हिरण्य गर्भ की दशा, किसी भी दशा को अपनी सीमा से बाहर ही फेंक देती है, लय नहीं होने देती है।

कदाचित् कबीर जी ने इन्हीं दैविक-दशाओं को अनुभव करके लिखा है कि—"कद्दू बूड़ै सिल उतराये" अर्थात् आगे सूक्ष्म दशा में एहसास के भारीपन रूपी सिल लय नहीं हो पाती है या डूब नहीं पाती है, बल्कि सूक्ष्मता अर्थात् दैविक-हल्कापन ही ईश्वरीय-विराट् यानी हिरण्य गर्भ की तह को छू सकता है, अन्य नहीं। अब श्री बाबू जी महाराज का कथन था कि मन के नेत्र या हृदय की दृष्टि ही न्योछावर होकर ईश्वर के इस हिरण्य गर्भ का मर्म भेद सकती है, क्योंकि यहाँ से ही सृष्टि रचना की शक्ति क्रियान्वित होती है। हृदय या हृद-देश (हार्ट-रीजन) तो अपना भेद खोलकर मानों सब कुछ सौंप कर विराट् देश में अर्थात् हिरण्य गर्भ की दिव्य-दशा में लय हो जाता है। अब यहाँ श्री बाबू जी द्वारा वर्णित माइण्ड रीजन से स्वयं ही हमें इसलिए शक्ति मिलने लगती है कि जिससे हम इसमें लय हो सकें तथा इस विराट् हिरण्य के तमाम सत्य-तथ्यों को अब मन की दृष्टि समेट कर समक्ष के दृश्य को उजागर करती जाती है। तब मन की आँखें या मन की दृष्टि द्वारा, अनुभूति में भर कर, हम यहाँ की दशा को लिख पाते हैं कि अब यहाँ हजारों सूर्य एवं शशि, पृथ्वी एवं आकाश को प्रकाशित करने वाली शक्ति मुझमें विद्यमान है। ऐसा लगता है कि रचना की शक्ति, सब कुछ, मानों मुझसे ही प्रवाहित है। वास्तव में हिरण्य गर्भ ही ईश्वर का विराट् है या ईश्वरीय-विराट् है। ईश्वरीय-विराट् रूप या विराट्-सौन्दर्य 'भूमा' का ही सौन्दर्य कहा जा सकता है। यहाँ यह दैविक-भेद प्रगट हो जाता है कि सर्व-प्रथम भूमा से ईश्वरीय शक्ति प्रकाश में आई और फिर उसका गर्भ स्थान अर्थात् हिरण्य गर्भ रचना की शक्ति का केन्द्र 'उससे' अर्थात् भूमा से ही प्रकाशित हुआ। वह मानव-मन में ईश्वरीय-शक्ति के रूप में, प्राणिमात्र के अन्तर में प्रकाशित हुआ। इससे यह सत्य तो प्रत्यक्ष हो गया कि ईश्वरीय-शक्ति ने मानव को सर्वाधिक सामीप्यता प्रदान की है। यह तथ्य भी अब हमारे समक्ष

प्रत्यक्ष हो उठा है कि वह सबको प्यार करता है। एक दैविक-रहस्य भी अनुभूति द्वारा प्रगट हो गया है कि मानव-मुक्ति की प्रथम-अवस्था यानी सामीप्यता तो उसने हमें साथ ही बख्श दी है अब आगे की उन्नति हम अभ्यासी के प्रयास पर निर्भर करती है।

एक अलौकिक-भेद है जो हिरण्य गर्भ की स्थिति प्राप्त करने पर प्रत्यक्ष हो जाता है कि अवतार में जितनी ईश्वरीय-शक्ति की आवश्यकता दैविक-कार्य के लिये आवश्यक होती है, वह ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो जाती है। वही व्यापक-शक्ति अवतार का विराट् रूप होता है। जैसा हमें ज्ञात है कि माता कौशिल्या तथा माता यशोदा के प्रार्थना करने पर यही विराट्-शक्ति दैविक-शक्ति पर आधिपत्य पाये हुए, भगवान् राम और कृष्ण के नाम एवं रूप में, बालक रूप में समाहित हो गई थी। यह तो श्री बाबूजी महाराज की अति कृपा का ही द्योतक है कि आध्यात्मिक सहज-मार्ग यात्रा में वे मानवों के हित भी यह अलौकिक-यात्रा हमारे भाग में जोड़ देते हैं। मैं इतना कह सकती हूँ कि हिरण्यगर्भ-देश की यात्रा दैविक-चमत्कारों से युक्त चमत्कृत हालत में होती है। शायद इसीलिये श्री बाबूजी इस यात्रा को शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण कराने में प्रयत्नशील रहते हैं। इस पर भी एक उपकार हम अभ्यासियों के साथ उनका यह होता है कि हम चमत्कारों को स्वयं से चमत्कृत होते हुए देखते हैं, किन्तु भूल की अवस्था रूपी आँचल से वे हमें ऐसे छुपाये रखते हैं कि चमत्कारों की चकाचौंध हमारी लगन एवं प्रेम की दृढ़ता को एक क्षण के लिये भी विचलित नहीं कर पाती है। हमारी यात्रा ऐसे पूर्ण हो जाती है जैसे कि 'कुत्ते भौंकते रहते हैं और हाथी चले जाते हैं अपनी राह।' इस अलौकिक देश की यात्रा पूर्ण होने के बाद हमें बख्शीश में मिलती है, वह दिव्य ईश्वरीय - दृष्टि जो हमारे लिये ईश्वरीय-देश की यात्रा के दृष्टिगत होने का दिव्य-पैग़ाम

लेकर आती है। अब हम अपने बाबूजी के उस ध्यान में जो हम प्राणियों की ओर है, लय होते हुए चल पड़ते हैं अनूठे-देश को इस अनूठी यात्रा के लिये। इस दिव्य-देश में प्रवेश देने के लिये वे हमारी क्या और कैसी तैयारी करते हैं, यह मेरे एक-गीत की पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है:—

"सोच आया ध्यान उनका ही करम ये कर गया,
शेष का अवशेष भी चिलमन में जाके छिप गया,
बख्शा था सिंगार साहिब ने, झुकाये सिर रहे।"

अर्थात् प्रथम तो हमें ऐसी प्रतीति एवं अनुभूति रहती है कि मानों इस दिव्य-देश की सहज-शक्ति सहज ही हमको अपने में समेट लेने का निमन्त्रण दे रही है, इस दैविक आकर्षण द्वारा खूबसूरत समां समक्ष में ऐसा फैला होता है कि इसमें प्रवेश कर हमारी दशा यह होती है कि पलकें बिछायें हम बेसुध से ताकते रहते हैं कि हमारे मालिक श्री बाबूजी अब हमें कहाँ ले जायेंगे। हमारे अन्दर अब दिव्य वर्त्तमान-दशा का एवं सामने फैले पसारे की आने वाली दशा का कोई होश नहीं रह जाता है। यहाँ तक होता है कि इस दैविक-बेसुधि की दशा में रंच मात्र होश का अवशेष भी 'मालिक' को नजर नहीं आता है, तभी तो उस दिव्य-चिलमन में अर्थात् श्री बाबूजी ने जिसे 'सुपर कान्शस' कहा है, उसमें कदाचित् इस दैविक-प्यार को पाकर ही मेरे गीत की पंक्ति दोहरा रही थी कि 'बख्शा था शृङ्गार साहिब ने, झुकाये सिर रहे।' परन्तु आज भी सोच आता है कि यह परम-अनुभूति क्षणिक ही क्यों थी, तो मैंने पाया कि 'श्री बाबूजी महाराज की दिव्य-शक्ति ने अपना कमाल हमारे समक्ष इस प्रकार से बिखेर दिया था कि यह अनूठा सत्य आज समस्त के लिये उज्जवल हो उठा है कि ईश्वर-प्राप्ति एवं दिव्य-मिलन का सौभाग्य आज मानव-मात्र के लिये सुलभ है। बस,

आवश्यकता है तो अपने ध्यान को उनमें ही रमा देने की और, यही सहयोग (कोऑपरेशन) हम अभ्यासियों को उनके साथ करना है। अब तो आप ही बतायेंगे इस अनूठे सत्य को कि ईश्वर का साक्षात्कार व प्राप्ति समस्त के लिये श्री बाबूजी की दिव्य-शक्ति से तेजवान सहज-मार्ग साधना द्वारा सुलभ है और इसकी परम अनुभूति ईश्वरीय दिव्य-दृष्टि द्वारा ही ग्रहण की जा सकती है, क्योंकि यह ईश्वरीय-देश है। यह ध्रुव-सत्य तो प्रगट हो ही गया है कि ईश्वरीय-देश में प्रवेश के साथ ही हमें दिव्य ईश्वरीय-दृष्टि भी ईश्वर की ओर से बख्शीश में मिलती है। अब ऐसी गति विहीन-गति, सहज ही यह प्रतीति भी हमें प्रदान कर देती है कि सबको प्यार करने वाले 'ये' ही हैं। यह सत्य जो चिरन्तन काल से ही हमें अपनी प्रत्यक्षता प्रदान करता रहा है कि कोई है जो सबको प्यार करता है और प्राणिमात्र के लिये अन्तर में कसक छुपाये 'वह' आता ही है। यही 'भूमा' अर्थात् केन्द्र की आदि-शक्ति की विशिष्टता (कैरेक्टर) है जो अन्तिम-सत्य है।

आज यह लेखिनी मानों तुली हुई है कि आध्यात्मिक-पथ की यात्रा में उठे हुए क़दम किसी भी प्रश्न का उत्तर पाने के लिये न ठहरें। अब प्रश्न यह उठता है कि पृथ्वी पर घटने वाली घटनायें पहले ब्रह्माण्ड-मण्डल में घटती हैं, फिर पृथ्वी पर घटती हैं, तो फिर ब्रह्माण्ड-मण्डल के मात्र विराट्-दृश्य को दिखाने के लिए भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को दिव्य-दृष्टि क्यों प्रदान की जबकि ब्रह्माण्ड की गति को अन्तर्दृष्टि पकड़ एवं पढ़ सकती है। उत्तर यही कहेगा कि भगवान् कृष्ण तो ईश्वरीय-शक्ति के सोलह कला के अवतार थे और ब्रह्माण्ड-मण्डल की गति को दिव्य-दृष्टि द्वारा ही निहारा जा सकता है, इसीलिए श्री कृष्ण भगवान् ने आवश्यकतानुसार अर्जुन को दिव्य-दृष्टि ही प्रदान की थी और उनकी इच्छानुसार ही अर्जुन ने दिव्य-चक्षुओं

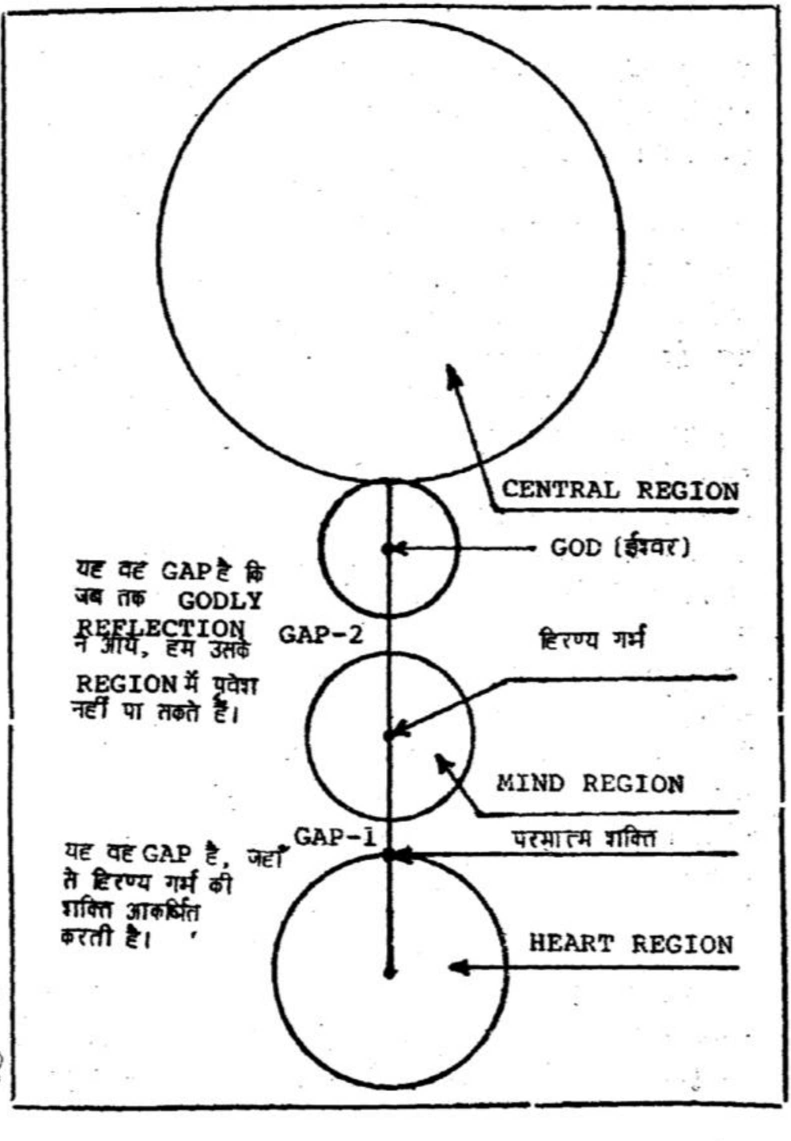
CENTRAL REGION
GOD (ईश्वर)
यह वह GAP है कि जब तक GODLY REFLECTION न आये, हम उसके REGION में प्रवेश नहीं पा सकते हैं।
GAP-2
हिरण्य गर्भ
MIND REGION
GAP-1
परमात्म शक्ति
यह वह GAP है, जहाँ से हिरण्य गर्भ की शक्ति आकर्षित करती है।
HEART REGION

से ब्रह्माण्ड-देश का वह दृश्य देखा कि 'ये सब तो पहले ही मरे हुए हैं, बस मैं तो निमित्त मात्र हूँ।' और उसके मोह का आवरण हट गया।

अब कुछ और दैविक-रहस्य प्रकाश में लाने के लिये मानों कोई लेखिनी को विवश कर रहा है। आध्यात्मिक-यात्रा के विषय में लिखने के लिये मेरी लेखिनी बेचैन हो रही है। संसार में जब हम किसी भी देश या शहर के विषय में कुछ जानना चाहते हैं तो गम्भीरतापूर्वक वहाँ की यात्रा का विचार बनाते हैं एवं सामान की व्यवस्था करते हैं और सावधान रहते हुए रुचिपूर्वक उन स्थानों का निरीक्षण करते हैं और सब बातें ध्यान में रखते जाते हैं। इसी प्रकार जब हम आध्यात्मिक-यात्रा पर निकलते हैं और सौभाग्य से हमें कोई उसका जानकार या उसका ज्ञानी गुरु मिल जाता है तभी यह यात्रा हमारे लिये सुलभ और सहज हो पाती है। सन्त कबीर की भाँति तो कोई बिरला ही अपनी चेतना एवं सजगता रूपी गुरु को साथ लेकर स्वतः ही दैविक-यात्रा के लिये तत्पर हो पाता है। सच तो यह है कि ऐसी यात्रा एकमात्र कबीर जी ही सम्पंन्न कर सकने में समर्थ हो सके हैं। मैंने तो यही पाया कि समर्थ सद्‌गुरु में लय रह कर चलने से हमें इस दैविक-यात्रा की सफलता के लिये जिन दिव्य बातों अर्थात् विशुद्ध आचरण, भक्ति, प्रेम व लय अवस्था की आवश्यकता होती है, वह स्वतः ही हमारे अन्दर उभरने लग जाती है और हमारी निष्ठा लक्ष्य की एकाग्रता के सहित लय-अवस्था में प्रवेश पाने लगती है।

यह एक सत्य है कि किसी के भेद को जानने के लिये उसके ही अन्दर प्रवेश पाकर तह तक गोता लगाना होता है। यद्यपि सन्तों के मतानुसार इससे अधिक लाभदायक और कोई बात नहीं हो सकती है।

जब जी ईश्वर-दर्शन एवं ईश्वर-प्राप्ति की लक्ष्य-पूर्ति के लिये विचार में एक ठान ठान लेता है तब चारों दिशा में उसे सफलता ही सफलता दृष्टिगत होती है और 'असम्भव' शब्द उसके लिये अर्थहीन हो जाता है। वास्तव में लय-अवस्था की महत्ता का वर्णन कोई क्या कर सकेगा जबकि यह अवस्था स्वयं ही किसी अप्रत्यक्ष का, एवं उस अप्रत्यक्ष के लोक की यात्रा का अव्यक्त-भेद है। फिर इसे भला कोई लेखिनी क्या कभी लेखन-बद्ध कर सकती है? कदाचित् नहीं। फिर भी जी की अँखियाँ जब किसी को खोज लेती हैं तो फिर अन्तर ही अन्तर में स्वत: ही आत्म-निवेदन की प्रेममय-स्थिति रहनी शुरू हो जाती है और लक्ष्य हमारे अन्तर में प्रत्यक्ष होता चला जाता है, अर्थात् दर्शन की स्थिति उभरती चली जाती है। उसके ध्यान में रहते-रहते हम कब उसमें ही लयलीन रहने लगते हैं, यह पता ही नहीं चलता है। अथात् मैं यह कहने में संकोच नहीं करूँगी कि अन्तर में विद्यमान ईश्वर की प्रत्यक्षता पाने के लिये स्वयं को अप्रत्यक्ष होते-होते डूब जाना होता है, यही लय-अवस्था है। यह अनुपम-गति आना अनिवार्य ही है, क्योंकि जिस प्रकार सागर में बिना गोता लगाये सच्चे मोती नहीं मिलते हैं, उसी प्रकार ईश्वरीय-भेद पाने के लिये अन्तस्तल अर्थात् हार्ट-रीजन में ही हमें डुबकी लगा कर गहराई में पैठते जाना होता है। उसी प्रकार आध्यात्मिक-यात्रा की साँची एवं सहज राह पाने के बाद, आवश्यक एवं अनुपम दैविक-गतियों की परमानन्दमय उपलब्धियों के लिये हमें ध्यान की गहनता में उतरते हुए, मालिक में लय-अवस्था की प्राप्ति के लिये सतत् अभ्यास में जुटे रहना चाहिये, तभी उसके पावन एवं विराट् अन्तस्तल से ही हमें भक्ति, प्रेम, समर्पण एवं ईश्वरीय लय-अवस्था रूपी रत्नों की प्राप्ति सहज ही होती जाती है और अन्तर में इन्हें आत्मसात् कर पाने की क्षमता भी बढ़ जाती है। हम तो दिव्य-परमानन्द में डूबे हुए ऐसे खोये रहते हैं कि 'बाबूजी' हमें चेतना न दें

कि तेरी यह हालत है, तो हमें पता ही न चले कि हम कहाँ थे। यह तो और बात है कि संसार में तो हम यदि किसी के भी रहस्य को पाना चाहते हैं तो पूर्णतः उस वस्तु में हमारा ध्यान रमा रहता है, किन्तु आध्यात्मिक-यात्रा में इसका नितान्त उल्टा ही होता हैं कि हमारे जी में समाया तेजोमय लक्ष्य एवं सद्गुरु, हमें प्रेरणा, उत्साह एवं शक्ति प्रदान करते हुए, जीवन के परम लक्ष्य 'साक्षात्कार' पाने की सफलता प्रदान करते हैं। यहाँ तक कि अद्वितीय लय-अवस्था रूपी दिव्य-गति भी वे ही हमें प्रदान करते हैं और परम रहस्यों को भी खोलते जाते हैं, किन्तु यह दैविक-शर्त भी अन्तर स्वतः ही स्वीकार कर लेता है कि ध्यान में रमे रहने से एवं ध्यान में रत रहते हुए, हमें भी फिर मिटना ही होता है, क्योंकि वापसी सम्भव नहीं होती है। आप प्रश्न कर सकते हैं कि फिर हम मिटते ही चले जाते हैं, ऐसा क्यों हैं? इसका उत्तर यही है कि यदि किसी भौतिक वस्तु का रहस्य पाना है तो सीमाबद्ध होने के कारण वह एक से अनेक की ओर ध्यान को मोड़ दे देता है, किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में तो ध्यान अनेक से एक में समाहित होता जाता है। दैविक-शक्ति की कशिश, हमें स्वयं में ही लय करती जाती है, तभी तो समक्ष में मात्र एक 'वह' ही तो रह जाता है, जिसके लिये कहा जाता है कि 'जो है, सो हैं'। तो ऐसे को ध्यान का आधार लेकर खोज लाने के लिये खुद ध्यान को खोना ही होता है, क्योंकि उसे पाने के लिये हमने उसका ही ध्यान रखने का आधार लिया था। उसमें स्वयं तन्मय रहने के कारण वह ध्यान भी क्रमशः ईश्वरीय-शक्ति में विलीन हो जाता है। इतना ही नहीं, तब लय-अवस्था भी अपनी-अवस्था को पाकर उसका और अपना ध्यान भी त्याग कर मानों वैरागी हो जाती है। श्री बाबूजी के कथनानुसार यही वैराग्य सांचा है अर्थात् 'रिननशियेशन इन प्योर फार्म' है। अब समक्ष में रह जाता है वह जो सबको प्यार करता है और हमें मानों स्वयं में अन्तर्धान कर

लेने के लिये ही वह तत्पर है। अब ज़रूरत केवल यही है कि वह तो सबको प्यार कर ही रहा है, हम उसे प्यार करने लगें और इस भक्ति में रम जायें। सहज-मार्ग साधना का यही मूल आधार अर्थात् प्राण है, जिसके लिये श्री बाबूजी ने इतना ही लिखा है कि 'मिलता उसी को है, जिसके नसीब में है'। दिव्य-यात्रा की इस अन्तिम-दशा को कदाचित् यह नाम 'जो है, सो है' इसलिये भी दिया गया होगा कि अब जब न कोई कहने वाला और न सुनने वाला है तो यहाँ मानों वह स्वयं को ही जता रहा है कि वह कौन है, अथवा यों कह लें कि यहाँ आदि केन्द्र में ज़ात की अपनी ही सत्ता एवं दिव्य-तेज व्याप्त होता है, मानों इस अन्तिम साक्षात्कार की अवस्था का कोई सानी ही नहीं है। आज हमें यह दुर्लभ दिव्य-साक्षात्कार प्रदान करके हमारे श्री बाबूजी यह जता रहे हैं कि यही वह है जिसे तुम ढूंढ़ रहे थे। मानों ईश्वर अपनी ज़ात अर्थात् असलियत को हमारे समक्ष खोल चुका होता है, किन्तु अब आध्यात्मिक-यात्रा में ईश्वरीय-देश की यात्रा की इति श्री हो जाती है, क्योंकि साक्षात्कार की परम-गति श्री बाबूजी महाराज की परम कृपा द्वारा हमें प्राप्त हो जाती है। सिर पर पड़ी ओढ़नी की सलवट की ही तरह दूरी का भास कभी-कभी ही हो पाता है। मज़े की बात तो यह है कि यह भी इसीलिए कि इस दूरी का भास ही हमें पृथ्वी पर हमारे जीवित रहने का मात्र प्रतीक होता है और इस रंचक दूरी की वास्तविकता हमें यह जताती है कि हमें समर्थ श्री बाबूजी महाराज अब आगे 'भूमा' के देश में प्रवेश देने के लिए तत्पर हैं। प्रथम तो परमात्मा हमारे जीवन का प्रतीक था, परन्तु जब इस दिव्य-विभूति ने हमें उसमें भी लय करके ईश्वरीय-साक्षात्कार में प्रवेश दिया था, तभी से हमारे पृथ्वी पर जीवित रहने का प्रमाण उनमें अर्थात् ईश्वरीय-शक्ति में विलय हो गया था। अब तो आगे की बात है; अब आगे जाने क्या होगा, वे ही जानें। हमें क्या पता है। अब ठिकाना ही

नहीं रहा तो पता क्या होगा।

पता नहीं आगे समक्ष में यह कैसी असलियत है जो छुपाई भी नहीं जाती है और वर्णनातीत भी है। छुपाई इसलिए नहीं जा सकती है, क्योंकि यह स्वयं प्रकाशित है और वर्णनातीत इसलिये कही गई है, क्योंकि इस अनन्त गरिमा तक पहुंचा पाने की शक्ति एवं क्षमता न आज तक किसी में थी और न होगी, तो फिर, इस अन्तिम सत्य अर्थात् अल्टिमेट की अनन्त-गति का वर्णन कर पाने का साहस कौन करता। मुझे भली प्रकार स्मरण है कि एक बार रात्रि के बारह बजे जब हम सब खाना खाकर बाबूजी महाराज के इर्द-गिर्द बैठे 'उनके' मुखार-बिन्दु से कुछ सुनने को उत्सुक थे, तभी अचानक वे बोल उठे कि— 'हमारे लाला जी साहब का कहना है कि कदाचित् कभी जब असलियत का जामा पहन कर कोई दिव्य-विभूति पृथ्वी पर अवतरित होती है, तब असलियत अर्थात आदि-शक्ति का दैविक-प्रवाह पाकर धरा धन्य हो उठती है।' तभी इस दैविक-विभूति में लय-अवस्था की दैविक-दशा पाकर ही उस आदि-श्रोत का कुछ वर्णन किया जा सकता है। उस अन्तिम-सत्य अर्थात् आदि-दशा तक पहुँचा पाने की क्षमता मात्र उस दिव्य-विभूति में ही होती है और वह दिव्य-दैविक-क्षमता ही सहज-मार्ग के अभ्यास में किसी अभ्यासी की अनुभूति को उस आदि-शक्ति की असलियत में रंग कर उस अनुभूति को भी लय कर देती है। इतना ही नहीं, तभी अगम पावन-गतियों के वर्णन कर पाने की सामर्थ्य भी प्रदान करती है। यह कैसा अद्भुत एवं अनुपम दृश्य होता है कि लिखते समय हाथ किसी के चलते हैं और लेखिनी किसी और के हाथ में होती है। यह अद्भुत-दृश्य समस्त के लिये सजीव हो उठे यह मेरी प्रार्थना है। आध्यात्मिक-यात्रा में अद्भुत, अलौकिक परम-गतियों के अभ्यासी भाई-बहिनों के हृदय सँवर जायें और हर लेखिनी असलियत की असलियत

वर्णन कर पाने में सक्षम हो जाये, समस्त के लिये मेरी यही शुभ-कामना है। सत्य तो यही है कि 'भूमा' की गरिमा का स्पर्श पाने के लिये दिव्य-विभूति में सहज लय-अवस्था ही एकमात्र अवलम्बन है।

लय-अवस्था की विशेषता एवं खूबी का कहाँ तक वर्णन किया जा सकता है। यों कह लें कि लय-अवस्था आध्यात्मिक-यात्रा का यान (जहाज) है, आध्यात्मिक-उन्नति का प्राण है और हम अभ्यासियों के लिये प्रियतम सद्गुरू श्री बाबूजी महाराज का वरदान है। इतना ही नहीं, दिव्य-अवस्था में प्रवेश पाने का सोपान है। अनुभव ने मुझे बार-बार चेतना दी है कि जब से श्री बाबूजी महाराज ने लिखा कि 'समर्थ सद्गुरु लाला जी साहब का शुक्रगुजार हूँ, क्योंकि उन्होंने ही तुम्हें लय अवस्था की बरक़त अता की है।' तभी से कई बार मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि लय-अवस्था की शुरुआत हो जाने पर भौतिकता के गुण-दोष एवं लगाव अथवा कोई भी ऐसी चीज़ जो आध्यात्मिक-उन्नति में बाधक हो सकती हैं, को अन्तर में विद्यमान 'मालिक' की ईश्वरीय-शक्ति मानों सहज ही बाहर ढकेल देती है, उन्हें उभरने तक का अवसर नहीं देती है, क्रियान्वित होने की तो बात ही बहुत दूर है। श्री बाबूजी महाराज (दिव्य-विभूति) का ऐसा दैविक-चमत्कार भी देखने को मिलता है कि जो बातें समाप्त होने वाली होती हैं, वह समाप्त होकर 'उनकी' सतत् प्राणहुति के प्रवाह में लय रह कर अन्तर विशुद्ध ही होता रहता है। जो बातें ज़रा भी ठोस रूप में होती हैं, वे मानों उनके प्यार के आंतरिक-सेंक से पिघल कर समाप्त हो जाती हैं। इतना ही नहीं, अपने अन्तर में घटित होते उनके इस दैविक - चमत्कार को अन्तर - चक्षु भलीभाँति निहारते हुये मानों स्वतः ही ध्यानावस्थित होकर सुध-बुध भूल कर मासूम से बने रह जाते हैं, किन्तु यह अनुपम दृश्य भी तब सहज अन्त-दृष्टि ही देख पाती है कि जो बाधक बातें और भी ठोस होती हैं, उन्हें

'मालिक' की शक्ति खुद में ही पी लेती है। फिर हम स्वयं भी सदैव के लिये यह भूल जाते हैं कि हममें कोई दोष या गुण भी था। इतना ही नहीं, यह ख्याल भी नहीं रहता है कि जो दोष और बातें अन्तर की 'मैं' समाप्त होते देख रही थी, वह मेरी थी या कोई दृश्य था। लय-अवस्था की महत्ता का यह तो थोड़ा ही वर्णन है जो अनुभवगम्य होता है। प्रियतम की याद में स्वयं को घोलकर जब कोई इस घुले हुये शीरे को अपने देवता पर चढ़ा दें, तो फिर अब लेखन हेतु कहाँ से लाये वह दिव्य-गतियों का संजोयापन जिन्हें अन्तर ने जागरण की भाँति स्वयं में सहेज कर रक्खा था। भूमा के गौरव के घूँघट की ओट से, भूमा के पसारे को लेखिनी में भरकर समस्त के लिये सुलभ कर देने एवं भूमा के सान्निध्य की ओढ़नी की मात्र सलवट की दूरी का सा भान हमें मिलता है, ताकि कहीं हमें केन्द्र की शक्ति खुद में न मिला लें और हम अकर्मण्य हो जायें। किन्तु कभी-कभी मात्र झलक देने वाला मेरे बाबूजी का मुखारबिन्द सामने आ जाता है, जिसके सहारे हम टिके रहते हैं।

वास्तविक बात तो यह है कि लय-अवस्था की खूबी बताने से आज यह लेखिनी झिझक भी महसूस कर रही है, क्योंकि यह तो कहना चाह रही है कि लय-अवस्था खुद ही एक दैविक खूबी है, जिसका सत्य एवं लाभ जब उजागर होता है, जब लय-अवस्था भी श्री बाबूजी महाराज में लय हो जाती है।

लय-अवस्था की प्राथमिक दशा की प्राप्ति पर हम स्वयं पुकार उठते हैं और महसूस करते हैं कि लय-अवस्था उन्मुक्त प्रवेश द्वार है ईश्वरीय-देश का। लय-अवस्था चुम्बकीय संकेत है, सद्गुरु श्री बाबूजी महाराज की ओर से जो मानों हमें सतत् निमन्त्रण देता है अपनी ओर आने का कि 'देखो, ईश्वर तुम्हारे कितने पास हैं। उनके इसी नेह-

निमन्त्रण पर कभी रीझने से और उस विराट् में पूर्णतः विलय न हो पाने पर कभी स्वयं पर ही खीझने से लय-अवस्था का प्रथम स्तर पूरा करते हैं, अर्थात् अपने नाम, रूप एवं याद से परे हो जाते हैं। हम इसे दूसरी तरह से सरस-गति से सजाते हुये यों भी कह सकते हैं कि जब हम अपने बनाने वाले सद्गुरू की याद में (जो जी में समाई रहती है) विभोर होकर समाये रहने लगते हैं, तो स्वयं के होने का भाव ही हमसे विदा ले लेता है। विभोरावस्था की साँची परिभाषा ही यही है। इस प्रकार लय-अवस्था के प्रभाव से उनका दिव्य-तेज हमारे अन्तर में प्रवेश करके भौतिक-योग का स्मरण देने वाले सारे तत्वों एवं अवयवों के सहित सूक्ष्म शरीर एवं कारण शरीर तक को अपने तेज से तेजोमय बनाते हुए ले चलते हैं, जिससे सारे भौतिक-आवरण दग्ध हो जाते हैं। श्री बाबूजी के कथनानुसार बीज दग्ध हो जाता है यही बीज-दग्ध की अवस्था है। फिर क्रमशः दिव्यता से एकत्व की दशा प्राप्त होने लगती है। आगे चल कर फिर एक बार यह मुबारक दिन हमारे समक्ष अपना भेद यों स्पष्ट कर देता है कि सूक्ष्म एवं कारण दोनों ही शरीर लय हो जाते हैं उस दैविक तेज में। अब रूप, रस, गन्ध और स्पर्श सभी से हम अछूते रहते हैं। कभी ऐसी अनुभूति भी होती है कि हम यहाँ जिन्दा भी हैं या नहीं। तभी एक नितान्त सहज एवं स्वाभाविक ध्यान स्वतः ही हमारी अन्तरात्मा को इस प्रकार से स्पर्श करता रहता है, मानों आत्म-साक्षात्कार की दुर्लभ-दशा हमारे ध्यान में छा गई है। हमारा सम्पूर्ण ध्यान आत्ममय होकर इस प्रकार इसमें समाया रहता है कि आत्मा की खूबियाँ सब अपनी लगने लगती हैं। ऐसा एहसास मैंने बाबूजी को लिखा भी था कि 'न जाने क्यों अब लगता है कि मैं तो निष्क्रय हूँ और सारे कार्य मैं देख भर रही हूँ। इतना ही नहीं, धरती एवं वायु का स्पर्श, आकाश का वीरानापन, अग्नि की तपिश एवं चमक, सभी से परे होकर मानों मैं स्वयं अपने शरीर से ही अन्तर्धान

हो गई हूँ। क्रमशः इस दशा में पहुँच जाने पर जब परम आत्म-तेज में स्वयं को मैंने विलीन होता हुआ पाया और अनुभूति मानों स्वयं मुझे पुकार उठी; अपने बाबूजी को यह दशा लिखने के लिये विवश कर उठी कि मुझसे अब चारों ओर एक दैविक-तेज फैल रहा है। वास्तव में आप अनुमान भी नहीं लगा सकते हैं कि उस परम तेज से तेजोमय हुआ मेरा वह स्वरूप कैसा था? उस समय मैं स्वयं पर ही मानों मुग्ध हो उठती थी। एक अलौकिक दशा यह भी थी कि दशा की अनुभूति तो चुप सी साम्यगति में चलती थी, किन्तु अपने द्वारा हुए चमत्कारों की बाढ़ हमारे रोकने की क्षमता से शायद परे इसलिये हो जाती थी, कि यह तेज हमारा नहीं था और न दशा ही हमारी थी। लगता था मैं अब अपनी दशा नहीं, बल्कि दशा की दशा लिख रही हूँ जो दैविक-ओर से है। क्या चमत्कार सा हो गया और कैसे हो गया— इससे कुछ लगाव ही नहीं रह जाता है। उन दिनों अभ्यास में दुर्लभ एवं अलौकिक अनुभूति मैंने यह भी पाई थी कि हर चीज़, चाहे तेज हो या कैसी भी सशक्त क्षमता हो, आध्यात्मिक-यात्रा में हर स्थिति स्वयं में स्वतः ही आत्मसात हो जाती थी। उसका ऑरबिट या क्षेत्र परिवर्त्तन होते ही वह शक्ति, तेज एवं क्षमता सभी मानों मुझमें स्वतः ही लय हो जाती थी। समक्ष वाले क्षेत्र अथवा आने वाली दशा का ही गौरव, वैसी ही अनुभूति एवं वैसी ही शक्ति का प्रादुर्भाव मानों स्वयं को मोहने लगता था। श्री बाबूजी महाराज का यह सत्य कथन है कि वास्तव में लक्ष्य अथवा डिवाइन में ही कशिश है, हम तो बस खिंचते चले जाते हैं। श्री बाबूजी ने मुझे यह भी लिखा था कि हालत और हालत की वजह साथ ही साथ चलती है, तो आप मुझसे यह तो अवश्य ही पूछना चाहेंगे कि तुमने हालत तो लिख दी, किन्तु हालत की वजह के बारे में परिचय नहीं दिया। ऐसा प्रश्न करके तो कदाचित् आप मुझ पर एहसान ही कर रहे हैं, क्योंकि यदि पहेली को बूझा नहीं

जायेगा तो उत्तर कहाँ से मिलेगा। अच्छा है आप यह राज भी जानना चाहेंगे तो मेरे श्री बाबूजी मेरे समक्ष में वह दृश्य पुनः लायेंगे ही जिससे मैं उत्तर को पूर्णतयः आपके समक्ष स्पष्ट कर सकूंगी।

तो सुनिये—ऐसा प्रायः ही मेरे साथ होता रहा है कि हर श्रेष्ठ-गति की अनुभूति के साथ ही श्री बाबूजी की उपस्थिति भी मानों साये की भाँति ही मेरे साथ बनी रहती है अथवा यों कहना और भी उचित होगा कि उनकी उपस्थिति का प्रतिबिम्ब ही मानों मेरे अन्तर-चक्षुओं की ज्योति थी, जिसके द्वारा ही मैं स्पष्ट देख पाती थी कि वर्त्तमान आध्यात्मिक-यात्रा में पाई हालत को मेरा अन्तर आत्मसात करता जाता है, अथवा यों कहा जा सकता है कि हर हालत मुझमें स्वतः आत्मसात होती चली जाती थी और उनके साथ होने का अन्दाज़ यह प्रमाणित कर देता था कि हालत की अनुभूति के साथ उसकी वजह भी बराबर मेरे साथ में लगी हुई है। श्री बाबूजी की कृपा से इतना तक होता है कि वर्त्तमान हालत पर अब आगे आने वाली सूक्ष्म दशा का क्रमशः प्रतिबिम्ब पड़ते-पड़ते जब आगामी सूक्ष्म-दशा करीब-करीब अन्तर में पूर्णतः छा जाती है तो आगामी सूक्ष्म-गति सशक्त हुई वर्त्तमान श्रेष्ठ-गति को स्वयं में ही लय कर लेती है और तब से उसकी महक ही हममें भरना आरम्भ हो जाती है। किन्तु यह कहने के लिए तो मैं विवश हूँ, बाध्य हूँ कि 'मालिक' में लय-अवस्था प्राप्त किये बिना हम किसी भी 'हालत' में लय नहीं हो सकते हैं' यही कारण है कि 'मालिक' की कृपा से हमें हालतें तो सब मिलती चलती हैं, किन्तु 'मालिक' में लय हुए बिना न तो हर दशा की यात्रा का परमानन्द और न हर हालत की शक्ति हमें मिल सकती है। इतना ही नहीं, दशाओं में चिपके रहने पर भी हम इसकी मृदु-अनुभूति का आनन्द नहीं उठा पाते हैं और एक दिन ? चाहे वे अपनी-प्राणाहुति का प्रवाह

देते हुए अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा हमें यात्रा के हर क्षेत्र से ले चलते हुए साक्षात्कार की हालत का ही परमानन्द चखा दें, किन्तु हम दिव्य - दर्शन की हालत में प्रवेश नहीं पा सकते हैं। बस एक दिन जमीन पर खड़े हुए ऊँचाई को दृष्टि भर देखने की तरह से 'मालिक' के कथन का मात्र विश्वास पा लेते हैं कि 'मैंने तुम्हें अमुक स्थान पर पहुँचा दिया है।' यही कारण है कि श्रेष्ठ-गति की प्राप्ति के बाद भी ऐसे अभ्यासी के पास बैठने से न तो हमें वह दिव्य-महक़, न एहसास में आनन्द व पवित्रता की अनुभूति ही मिल पाती है। इसीलिये हमारे दैनिक-व्यवहार एवं दिन-चर्या में भी दैविक-महत्ता की महक़ दूसरों को नहीं मिल पाती है। हमारी बोली, वाणी में अपनायत का आकर्षण नहीं समा पाता है। या यों कह लें कि हमारे होने अथवा जीवित-अस्तित्व का बौनापन हमें कभी छोड़ नहीं पाता। इसीलिये श्री बाबूजी महाराज ने बार-बार यही कहा है कि लय-अवस्था पाये बिना आध्यात्मिकता खिलती व महक़ती नहीं है, प्रेम पनपता नहीं है एवं रहनी बदलती नहीं है। यद्यपि उसका एक चरण 'मालिक' की अमोघ एवं अजेय दिव्य-शक्ति द्वारा श्रेष्ठ-गति को छूता रहता है, फिर भी 'बिना अपने मरे स्वर्ग दिखाई नहीं देता है,' यह कहावत यहाँ चरितार्थ हो जाती है। ऐसे में यही कहना सत्य लगता है कि वास्तव में दिव्य-देश की यात्रा तो 'मालिक' की इच्छा-शक्तिमय होती है और यात्री—हम या हमारा वाह्य अस्तित्व नहीं होता है, वरन् वह 'जीव' होता है कि जिसमें से जीवपना मिटाकर 'मालिक' साथ ले जाते हैं, डिवाइन (वास्तविक अस्तित्व) को सौंपने के लिये। सत्य तो यही है कि जब हम अपना योग दिव्य-विभूति अथवा दशा को प्रदान करने वाले से न कर सके और न खुद से ही बँधे रहे तो वह धरा हमें कहाँ से नसीब होती, जो हालत के साथ हालत की वजह होती है। दैविक ईश्वरीय-गति में इतना ही नहीं, ऐसा भी होता है कि हमारे बाबूजी महाराज

की महत्ता एवं दिव्य-विभूति हमें आने वाली सूक्ष्म-दशा के योग्य बनाती ही जाती है। दैविक-सूक्ष्मता से प्रतिबिम्बित करके एवं दैविक-सूक्ष्मता का स्पर्श देकर ही दिव्य-विभूति यह कार्य करती है। साथ ही विशेषता यह भी रहती है कि आने वाले सूक्ष्म-स्तर को अपना पाने के लिये उसी स्तर की शक्ति भी हमें प्रदान करते चलते हैं। परिणाम-स्वरूप उस स्तर में प्रवेश पाने तक सहज ही हम उस दैविक-सूक्ष्म-दशा में भी लय-अवस्था प्राप्त कर लेते हैं। प्रकृति का यह नियम है कि बिना वैसी ही स्थिति पाये वहाँ की यात्रा असम्भव है। मैंने कई बार ऐसा पाया है कि श्री बाबूजी की पावन प्राणाहुति के सतत् प्रवाह में अथवा सहज-मार्ग की सहज-धारा में प्रवेश पा जाने पर यह अवस्था स्वतः ही हमारा अन्तर टटोल लेती है और फिर लय-अवस्था का लाभ उठाते हुए हम अनन्त-यात्रा के यात्री के सामान चल पड़ते हैं अनन्त की ओर।

*

"मैं यह जरूर करता हूँ कि मन का रुख ईश्वर की तरफ कर देता हूँ ताकि वह उस तरफ लगा रहे और वह लग भी जाता है। लोग क्या करते हैं कि उसको दुनियादारी की तरफ घसीटते हैं और यह हो नहीं सकता; इतना मुझको गुरु महाराज की कृपा से Confidence (विश्वास) है कि जिस मन को ऊपर की तरफ लगा दिया, फिर वह नीचे की तरफ नहीं उतर सकता। नतीजा, मुमकिन है यह होता हो कि उन लोगों को जो दुनिया के मामले में ज्यादा दौड़ लगाते हैं, परेशानी का एहसास ज्यादा होता हो। इसलिए कि मन ऊपर रहना चाहता है और उसको वे नीचे घसीटते हैं।

—कस्तूरी को लिखे गये श्री बाबूजी के पत्र से उद्धृत।

ईश्वरीय-देश

इस अद्भुत एवं अलौकिक सूक्ष्य-यात्रा के आगे का हाल सुनना चाहेंगें। अब इस दिव्य-यात्रा का वर्णन भी स्वयं को अभिव्यक्त करने के लिये ही मेरी लेखिनी के समक्ष स्पष्ट होता जा रहा है, फिर भला मेरी लेखिनी कैसे चुप रहेगी। ऐसा इसलिये ही है कि जब जो विचार हालत का साथ नहीं दें पाते हैं या हालत विचार की पहुँच से परे हो जाती है, तो स्वयं हम अपनी सुधि खो देते हैं। तब हमारे बाबूजी हमारे ध्यान को सहज-दशा से योग दे देते हैं; दिव्य-सौन्दर्य से प्रकाशित सहज-मार्ग में प्रवेश दे देते हैं। इस दैविक-यात्रा में साथ दे सकें, ऐसी जागरण की सहजता को भी ध्यान में प्रवेश दे देते हैं, जिससे हमें विचार द्वारा दशा को पकड़ने की जरूरत ही न पड़े और हम स्वतन्त्र रूप से मुक्ति (लिबरेशन) की स्थितियों को भी पार करते हुये मुक्ति की चारों अवस्थाओं को प्राप्त करते हुये इनकी सीमाओं को भी लाँघ जाते हैं, अर्थात् हर दशा व उसकी शक्ति की लय-अवस्था को भी आत्मसात् कर लेते हैं और तब उस दैविक-श्वाँस से जो श्री बाबूजी के कथनानुसार 'फ्रीडम फ्रॉम फ्रीडम' है, भी हम सहज ही योग पा लेते हैं। तब समक्ष में फैला होता है दिव्य-ईश्वरीय-देश का दर्शन। सहजता को भी मात कर देने वाले इस अनुपम आनन्द के फैलाव में प्रवेश पाकर एवं अपने ही दिव्य-विराट् में फैले हुये इस दिव्य-ईश्वरीय-देश में क्या श्री बाबूजी महाराज की अहेतुकी कृपा के बिना, उनके अतुलित प्यार की सहज-धारा में डूबे बिना, किसी को भी प्रवेश कर पाने का सौभाग्य प्राप्त हो सकता है? कदाचित् कभी नहीं। इस दिव्य-सौन्दर्य का सार बिना सहज एवं दैविक सजगता के कभी भी ग्रहण कर पाना असम्भव है।

सम्भवतः इसीलिये असम्भव श्रेष्ठ-दशाओं को भी प्राणिमात्र के लिये सम्भव बना देने के लिये ही श्री बाबूजी महाराज का प्राकट्य धरती पर हुआ है। इतना ही नहीं, वातावरण को भी स्वच्छता इस कारण से ही प्रदान की होगी कि इनके प्राकट्य से दिव्य-प्राणाहुति के अगम प्रवाह द्वारा आदि शक्ति भूमा के आह्लाद को प्राणों में भर कर मानव की श्वाँस में यह दैविक-अमृत भरता रहे और ईश्वरीय-युग अर्थात् सत्युग का आवाहन करने में भी परम सहायक हो। वहाँ के इस अनुपम एवं अलौकिक दिव्य - सौन्दर्य का वर्णन कर पाने में मात्र वहाँ का 'मालिक' ही सक्षम हो सकता है, किन्तु जब वह स्वयं ही वर्णनातीत है, तो भला वह कैसे वर्णन कर पायेगा, क्योंकि देश भले ही 'उसका' है, अर्थात् ईश्वरीय-देश है, परन्तु वह हृदय, भक्तों का लेता है, जो वहाँ पहुँच कर उस साक्षात्कार में विभोर हुए रहते हैं। लेकिन वहाँ एक और रहस्य भी खुल जाता है। वह यह कि कोई उसे हमारे आने का समाचार तो पहुँचा दे और यह कार्य सिवाय समर्थ सद्गुरु लाला जी साहब द्वारा पृथ्वी पर अवतरित विभूति के अतिरिक्त कोई नहीं कर सकता है। यही भेद श्री बाबूजी महाराज द्वारा लिखित 'एफीकेसी ऑफ राजयोग' पुस्तक में वर्णित 'महा-पार्षद' की दशा का रहस्य है। वास्तव में तब उस महत् केन्द्र अर्थात् 'भूमा' के द्वार के पार्षद (द्वार-पाल) तो हम होते हैं और हमें दिव्य-द्वार तक पहुंचाने वाले भी हमारे श्री बाबूजी महाराज हमारे साथ होते हैं और उन (भूमा) तक यह सन्देशा पहुँचाने वाले श्री बाबू जी स्वयं होते हैं कि तेरे द्वार पर कोई तेरे साक्षात्कार हित खड़ा प्रतीक्षा कर रहा है तब ऐसी आतुरता प्राणों में भर जाती है कि लगता है कि कलेजा मुंह को आ जायेगा। यही श्री बाबूजी द्वारा वर्णित 'दिव्यानन्द' (ब्लिस) की दशा है। आगे चलकर सेन्ट्रल-रीजन में प्रवेश देकर वे हमें तो 'महा पार्षद' की स्थिति एवं परम-शक्ति भी प्रदान कर देते हैं और स्वयं एक बार फिर हमारे लिये

सन्देश वाहक के रूप में आ खड़े होते हैं । जानते हैं क्यों ? क्योंकि मात्र अपने संकल्प में लय करके ही इस अगम्य केन्द्र में हमारा प्रवेश दे पाना उनके लिये सम्भव हो पाता है । श्री बाबू जी महाराज के वरदान स्वरूप यही 'निगेशन' की दशा है, जो उनके वरदान स्वरूप हमारे लिये सम्भव हो जाती है, अर्थात् यहाँ आइडेन्टिटी (अस्तित्व) ही शेष रह जाती है । दूसरे यहाँ 'भूमा' के वैभव एव अनन्तता का मात्र आभास प्रदान करने की क्षमता रखने वाले श्री बाबूजी ही होते हैं । 'अन्तिम सत्य' के अन्तिम आभास के पश्चात् फिर पैराव ही पैराव रह जाता है । पैराव में भी एक स्थान ऐसा आ जाता है कि श्री बाबूजी की यह दिव्य-वाणी यथार्थ हो उठती है कि 'निगेशन फ्राम निगेशन' अर्थात् अन्तिम यात्रा की अन्तिम दशा से भी हमारी पहिचान हो जाती है । अब 'यात्रा' शब्द का अन्त हो जाता है । इस हालत को पाने के विषय में मेरी लेखिनी केवल इतना ही लिख सकेगी कि जब आइडेन्टिटी भी अपने को आइडेन्टिफाई (पहचान) न कर पाये, वही वर्णन 'निगेशन फ्राम निगेशन' का होता है । बस इस विषय में इतना ही कहकर मेरी लेखिनी ने आगे कुछ लिखने से इन्कार कर दिया है, मानों अब तक का वर्णन (सब कुछ) आत्मसात करके वह हाथ पर हाथ रख कर बैठ गई है । अब एक प्रश्न आप अवश्य कर सकते हैं कि 'निगेशन फ्राम निगेशन' की हालत का अन्दाज कैसे मिलता है, तो सुनिये :— जब 'मालिक' अपनी संकल्प रूपी नैया में बिठा कर अन्तिम-सत्य तक हमें पहुँचाना चाहते हैं, तभी तो हम पैरते हैं एवं तब दिव्य-चेतना (डिवाइन-एलर्टनेस) की भी इति श्री हो जाती है । लगातार हमें ऐसा लगने लगता है कि मानों कोई अपनी परम-शक्ति द्वारा अपने होने की प्रतीति हमें देरहा है, अर्थात् अन्तिम-सत्य का सत्य हम पर तारी हो जाता है, मानों वह जताना चाहता है कि उसका हवाला (परिचय) वह स्वयं ही है ।

यह तथ्य भी आज स्पष्ट हो गया है कि आत्म निवेदन हमारे वाह्य मन का होता है एवं समर्पण अन्तर्मन द्वारा 'अहं' अर्थात् अपने होने के भाव का होता है। जब वाह्य मन एवं वृत्तियाँ अन्तर्मन में लय हो जाती हैं तब अन्तर्मन में समर्पण की अवस्था पलने लगती है। क्रमशः एक दिन जब समर्पण भी समर्पित हो जाता है अर्थात् ऐसी अनुभूति होती है कि लगता है कि समर्पण के विषय में मेरे बाबूजी जानते हैं मैं नहीं, तो ईश्वरीय-आविर्भाव की सतत् अनुभूति ही इसका सुन्दर परिणाम हो जाती है। ऐसी दिव्य एवं सतत् अनुभूति ही क्रमशः हमें उसमें लय रखना सिखा जाती है और एक दिन ? कोई चित्तहारिणी महत् शक्ति हमसे हमको ही चुरा ले जाती है। श्री बाबूजी के कथनानुसार तब यही लय-अवस्था की कि 'हमसे हमको ही चुरा ले जाना' परिभाषा सत्य हो जाती है एवं हमें स्वयं में लय कर लेती है। श्री बाबूजी के कथन का यह सत्य भी हमारे समक्ष प्रत्यक्ष हो जाता है कि 'फ़ना' अर्थात् लय अवस्था में कहीं हम जिन्दा रहते हैं, किन्तु इसकी बक़ा अर्थात् 'मर कर पाई जिन्दगी' इसका सुन्दर परिणाम होता है। 'बक़ा' में हम नहीं रहते हैं, हमारी जिन्दगी बिक जाती है और खरीददार होते हैं स्वयं 'मालिक'। यही अन्तर है दोनों दशाओं में। फ़ना प्रयासमय है और बक़ा इस प्रयास का सुन्दर परिणाम है, जो प्रयास से परे अपनी सहज-अवस्था को पा लेती है, वह 'जिन्दगी' जो सदा थी, और सदा रहेगी, किन्तु यह अकेली नहीं होती है।

卐

"अभ्यासी की हालत यह होनी चाहिए कि "सावन सूखा न भादों हरा।" यह बबूल के वृक्ष की तारीफ है, जो सदैव एक समान रहता है।"

—कस्तूरी बहिन को लिखे गये श्री बाबूजी के पत्र से उद्धृत।

एब्जोर्वनेस (डूबा रहना)

सहज-मार्ग साधना द्वारा 'मालिक' का द्वार खटखटाने के लिये ध्यान में डूबे अन्तर्मन की लगन जब सतत् लग जाती है, तब बहुधा अन्तर में मैंने ऐसा आभास पाया कि मानों खोजी मन और 'मालिक' यहीं कहीं आस-पास हैं। ऐसे आभास ने मन में ऐसी खिंचन पैदा कर दी कि बहुधा दिन में काम-काज करते समय भी या सोते में भी ऐसा लगता था कि मानों कोई आकर्षण मुझे हर पल अपनी ओर खींच रहा है। आज यह एहसास इस बात का सत्य प्रमाण हो गया है कि ईश्वर-प्राप्ति मानव मात्र के लिये सम्भव है। सच मानिये तो इस कशिश के स्वयं ही अन्तर में उत्पन्न हो जाने पर ईश्वर और उसका प्रकाश हमारे हृदय में ऐसा सूत्र बन जाता है, जिसमें अन्तर्मन बँध जाता है। अब ध्यान में बैठने की यही मानना (सपोज करना) समाप्त हो जाती है कि ईश्वर हमारे अन्तर में है, वरन् तब से 'मानने' शब्द को अन्तर स्वयं में प्रवेश ही नहीं देने देता है। लगता है वह इस शब्द को बाहर ही फेंक देता है, क्योंकि उसे तो उस साँचे ईश्वरीय-आकर्षण से मोह उत्पन्न हो जाता है। क्रमशः यह मोह भी खुद ही भंग हो जाता है। जानते हैं कब ? जब ध्यान में श्री बाबूजी द्वारा बताई डिवाइन लाइट कुल हृदय के साथ ही रोम-रोम में ऐसी भर जाती है कि इससे धीरे-धरे अन्तर-चक्षुओं में इसका समाना शुरू हो जाता है और वही हमारे अन्तर में ईश्वर के आविर्भाव को प्रकाशित कर देता है। परिणामतः दिन भर काम में हम चाहे कितने ही व्यस्त क्यों न हों, किन्तु हमें यह ध्यान बराबर रहने लगता है कि जो हमारे अन्तर में विद्यमान है, उसकी सामीप्यता कभी न ओझल होने दें। इतना ही नहीं,

ध्यान अपने दामन में इस 'दिव्य' को समेट पाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहने लगता है और वियोग की व्यथा पैदा हो जाती है। कैसा सुन्दर एवं पावन चित्रण हमें अन्तर में मिलता है कि एक ओर तो ध्यान बराबर उस दैविक-सामीप्यता के एहसास का सुख स्वयं में भर लेना चाहता है और दूसरी ओर इससे ही योग पाया हुआ अन्तर्मन ध्यान में लय रहने लगता है, जो उस सामीप्य के सतत् सेंक से पगा हुआ अन्तर में विद्यमान ईश्वर की ओर उन्मुख रह कर ऐसी परिपक्व अवस्था पा लेता है कि फिर लौट कर पीछे देखना भूल जाता है। बस, यह दशा प्राप्त हो जाने पर मन की गति सदैव के लिये ऊर्ध्वमुखी हो जाती है और श्री बाबूजी महाराज द्वारा बताये ध्यान का प्रथम अर्थ पूर्ण हो जाता है कि "मैंने आन्तरिक सत्संग बताया है, इसलिए कि दृष्टि अन्तर्मुखी हो जाये और मन की गति अन्तर्मुखी रहकर ऊर्ध्वमुखी हो जाये।" इसका बड़ा लाभ हमें आध्यात्मिक-क्षेत्र में यह मिलता है कि तब से वाह्य अर्थात् भौतिक बातों का प्रभाव अन्तर में पहुँचना बन्द हो जाता है। आगे चलकर एक दिन ऐसा भी आता है कि अन्तर और और वाह्य दोनों के मुख एक दूसरे से भिन्न दिशा पा जाते हैं। मन की ऊर्ध्वमुखी गति, ईश्वरीय-शक्ति का सम्बन्ध पाकर, ईश्वर की खोज में साक्षात्कार पाने की सहज-राह पकड़ लेती है और मन की अधोमुखी-वृत्ति भौतिक कर्तव्यों का यथोचित पालन करने में तत्पर रहती हैं। एक अद्भुत दशा यह भी हो जाती है कि अधोमुखी वृत्ति शरीर व माइन्ड को सहारा देती है और ऊर्ध्वमुखी वृत्ति ध्यान में डूबी हुई ईश्वर की खोज की दिशा में अग्रसर हो जाती है।

ध्यान की महत्ता

भला बताइये, कैसी विडम्बना है यह कि जब ध्यान का विषय स्पष्ट करने के लिए लेखनी उठाने का प्रयास करती हूँ, तो अपने भाई-बहिनों की यह शिक़ायत स्मरण में आ जाती है कि ध्यान नहीं लगता है। इसका एक अर्थ यह तो स्पष्ट है ही कि ध्यान का दामन सदैव हमारे साथ है, हमारे पास दैविक-धरोहर के रूप में है, जिसका सदुपयोग अथवा दुरुपयोग प्राणिमात्र के हाथ में है। मन का स्थिर होना ध्यान की स्थिरता पर ही निर्भर करता है। ध्यान कब स्थिर होता है, जब हमारे समक्ष एक ही लक्ष्य रहता है, जो स्थिर है, अविचल है। जब हम मूल-ध्यान में डूबे रहते हैं तो मूल-शक्ति का आधार पाकर मूल-स्रोत तक पहुँच जाते हैं। एक आवश्यक बात यह लिखना जरूरी है कि विचार ध्यान के इतने समीप रहते हैं कि ध्यान का प्रतिबिम्ब उन पर पड़ता रहता है। जैसा ध्यान रहता है, वैसा ही रंग विचार स्वयं में ग्रहण करके, ध्यान को सौंप देते हैं। यदि हमारा ध्यान भौतिकता में रमा होता है तो विचारों में सांसारिकता ही सक्रिय रहती है और यदि ध्यान आध्यात्मिकता की ओर उन्मुख हो जाय तो विचारों में आध्यात्मिकता ही सक्रिय हो जाती है और तब मन ईश्वरीय-ध्यान में लगने लगता है। भौतिकता में भी जिस विषय की ओर ध्यान घूम जाता है, विचार उसी को लेकर सक्रिय हो जाते हैं और हमारा ध्यान भी उधर ही बँट जाता है। भौतिक विषय की सामग्री ध्यान में भरने के लिए विचार कार्य बाँट लेते हैं, विषय सामग्री एकत्रित करने के लिये विचार स्वतः ही बँट जाते हैं। फिर विचारों का ताना-बाना हमारे ध्यान को अपने ही अनुरूप जामा (आवरण) पहना देते हैं। इस प्रकार से

श्री बाबूजी महाराज के कथनानुसार 'आदमी की वास्तविक हस्ती गिलाफ़-दर-गिलाफ़ में छिप जाती है और फिर विचार उन गिलाफ़ों से ही टकरा कर क्रियान्वित होते रहते हैं और उन्हें असलियत का प्रतिबिम्ब तक नहीं मिल पाता है। इस प्रकार गिलाफ़ों से टकराते रहने के कारण ये निरन्तर ठोस पड़ते जाते हैं। यही कारण बन जाता है कि हमारा ध्यान केन्द्रित नहीं हो पाता है। ध्यान की यह विशेषता अपना रंग अवश्य लाती है। चाहे सांसारिक विषय हो अथवा साक्षात्कार का परम लक्ष्य हो, विचार उसी विषय से सतत् सम्बन्धित रहते हुए उस विषय का निचोड़ ले आते हैं। इसीलिये बड़े से बड़े सांसारिक कार्यों में भी हमें सफलता प्राप्त होती ही है। ध्यान में दिव्य-लक्ष्य को धारण करने से विचारों में एकाग्रता के साथ ही डिवाइन से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। ध्यान में सतत् दृढ़ता आती जाती है और उस महत् लक्ष्य की प्राप्ति का विश्वास बढ़ता चला जाता है। जब तक विचारों में संसार समाया रहता है, तब तक विचारों द्वारा ध्यान का फैलाव एवं लाभ (संसार से सम्बन्धित रहने के कारण) ईश्वरीय-प्रकाश पर ठहर नहीं पाता है। भौतिक समस्याओं में उलझा हुआ यह ध्यान लौटकर हमारे पास वापस ही नहीं आता है। यही कारण है और वास्तविक तथ्य भी यही है कि हम स्वयं भी बजाय विराट् में फैलाव पाने के बाह्य में ही फैलते जाते हैं। अब हमारे समक्ष एक ही प्रश्न रह जाता है कि कौन अपनी शक्ति से हमारे ध्यान को पुनः हमारे घर वापिस लाये ? किसके पास इतनी कुव्वत, शक्ति व साहस है, जो प्रथम तो हमारा पता लगाये कि हम कहाँ हैं ? फिर हर जगह, हर फँसाव में गिरफ्तार हुए हमारे ध्यान के लगाव को क्रमशः हर एक से मुक्ति दिलाये। इतना ही नहीं, प्रथम तो हमें, हमारे ध्यान को विचारों सहित, घर अर्थात् शरीर के भीतर व्यवस्थित करे, फिर हमें इसमें ही स्थिर रखने के लिये हमारे ध्यान को संयत करके दिव्य लक्ष्य दे। यह

कार्य वह प्रियतम ही कर सकता है, जिन्हें सबसे प्यार है। इतने से ही 'उनका' कार्य समाप्त कहाँ होता है? बल्कि वे अपनी ही दिव्य-प्राणाहुति का प्रवाह देकर हमारे ध्यान को लक्ष्य से ऐसा योग देते चलते हैं कि फिर हम उस दिव्य का ध्यान रखने के लिये मजबूर हो जाते हैं। वास्तव में इस विशेष कार्य की पूर्ति हेतु ही श्री बाबूजी महाराज ने सहज-मार्ग साधना में सर्वप्रथम तीन सिटिंग्स का प्राविधान रखा है। इसी प्राविधान की सक्रियता के लिये उन्होंने हमसे ध्यान लगाने का नहीं, वरन् ध्यान रखने का सहयोग चाहा है। 'उनके' प्यार की इस गरिमा का क्या कहना कि अपनी इतनी बड़ी देन के लिए कितने छोटे से सहयोग की चाह हम अभ्यासियों के समक्ष रक्खी है जिसे पूर्ण करना हमारा परम कर्त्तव्य बन जाता है।

सत्य तो यह है कि प्राणिमात्र के ध्यान को पुनः व्यवस्थित करने के लिए ही पृथ्वी पर अवतरित हुई दिव्य-विभूति का कार्य, क्रमशः वातावरण की गन्दगी को स्वच्छ करते हुए इसमें अलौकिक-चेतना का प्रवाह देने के लिए ही शुरू हुआ था ताकि वह मानव के ध्यान को पुनः यह ध्यान दिलायें कि वह खुद से भी भटक कर कहाँ बिखर गया था। पुनः दिव्य-प्राणाहुति का प्रवाह देकर वे पहले तो हमें हमारे घर (हृदय) में ठहराव देते हैं, ताकि हमारा ध्यान अन्तर में स्थिरता पा सके, पुनः हमारे अस्तित्व को पावन एवं सुव्यवस्थित करना आरम्भ कर देते हैं। धीरे-धीरे दैविक-कार्य के हित अपने संकल्प की स्पष्टता को हमारे ध्यान में उतारते चलते हैं। समक्ष में, अनुभूति के रूप में अन्तर्मन को उज्ज्वलता का भी दर्शन देते जाते हैं ताकि प्राणिमात्र पुनः ईश्वर को याद करे और ध्यान के द्वारा अपने वतन अर्थात् ईश्वरीय-देश की वापसी को उनका सतत् स्मरण करते हुए उनके साथ चलने के लिए तैयार हो जाये। इन परम प्रिय का दर्शन पा कर ही कदाचित मेरे मन

में गीत की यह पंक्ति उभर आई कि :—

"वतन से आये हैं ये, हमको साथ लेने को
दिखाया बाबू ने मारग सहज हमारा है।"

किन्तु मैंनें यह देखा है कि 'वतन' की वापसी के ख्याल को लाना और पुनः वहाँ की पहुँच की लगन को जागृत करना कितना, कठिन होता है। हमारे विचार, व ध्यान बार-बार भटक जाते हैं। यह ध्यान रखने की शिक्षा एवं क्षमता भी वह हमें देते हैं। विचारों के साथ बिन-बुलाये-मेहमानों की तरह व्यवहार करो और 'ईश्वर हमारे हृदय में मौजूद है' इस विचार की धारणा को दृढ़ करो। फिर यह ध्यान स्वतः ही रहने लगता है कि 'वह' हमारे हृदय में विद्यमान है। इस सत्य को हृदय के स्वीकार करते ही क्रमशः वह दिव्य-आविर्भाव हमारे हृदय में स्पष्ट होने लगता है। इसका कारण यह है कि ऐसा ध्यान रखने से उन तक हमारे ध्यान की धारा का स्पन्दन पहुँचने लगता है। हमारे और उनके मध्य ध्यान द्वारा हमारा सन्देशा उन तक पहुँचने में जो बातें बाधक होती हैं, अथवा जो आवरण पड़ गये हैं, वे क्रमशः झीने होते - होते साफ हो जाते हैं और ध्यान उनकी सामीप्यता की खुशी का अनुभव पाने लगता है। इस अनुभव का आनन्द पाकर अन्तर में इस आनन्द को बार - बार पाने की चेतना जागृत हो जाती है और यह चेतना जागते ही अपने इष्ट को पहिचान लेती है और हमारी आन्तरिक लगन स्वतः ही उनसे लग जाती है। लगन पैदा हो जाने पर जब ध्यान को उनकी सामीप्यता का अनुभव सतत् रूप से मिलने लगता है तो चेतना में ऐसी सजगता उत्पन्न हो जाती है कि यह आनन्द जाने न पाये और हमारा ध्यान इस सामीप्यता के आनन्द को स्वतः ही पीता रहे, ऐसा सतत् प्रयास आरम्भ हो

जाता है। इस प्रकार जो लगन एवं सजगता श्री बाबूजी हम अभ्यासियों से चाहते हैं, वह हमारे अन्तर में स्वतः ही उत्पन्न हो जाती है। अन्तर में छिपी हुई आत्मिक-दशा की इन बहारों के विषय में क्या और कैसे कहा जा सकता है। अब एक दृश्य और हमारे सामने स्पष्ट एवं उज्जवल हो उठता है कि उनकी सामीप्यता के सेंक से ईश्वर की मौजूदगी का सतत् आभास सूक्ष्म रूप से हमें अन्तर में मिलने लगता है। अतः इस आभास से आन्तरिक-दृष्टि द्वारा उनका दैविक-स्पर्श पाकर अन्तर पुलक-पुलक उठता है। पुलकित होने के परमानन्द का अनुभव स्मरण को याद में बदलने लगता है। स्मरण में विचार का पुट रहता है, परन्तु याद की पावन एवं विशुद्ध-अवस्था आन्तरिक-दृष्टि में सामने लगती है। तभी से हमें यह आभास सतत् रूप से मिलने लगता है कि 'दिल में है तस्वीरे यार, जब जरा गर्दन झुकाई देख ली।' अन्तर में बैठा प्रिय हमें मानों दृष्टिगत होने लगता है अथवा यों कहें कि याद ही वह आँख होती है जो अन्तर में प्रिय के आविर्भाव का दर्शन पाने लगती है। यहाँ पर साधना का यह भेद भी समक्ष में स्पष्ट कर देने को जी उतावला हो रहा है कि डूबना ध्यान का होता है अर्थात् ध्यान ही सतत् रूप से निमग्न हो जाता है और परिणाम स्वरूप मन स्वतः ही ध्यानावस्थित-मन में समा जाता है। प्रिय के ध्यान में डूबा हुआ मन प्रिय की छवि एवं आनन्द को पीकर योगी हो जाता है। बस उसी दिन हमें अपने श्री बाबूजी महाराज का पत्र प्राप्त हो जाता है कि अब ध्यान करने की आवश्यकता नहीं है। हम यों भी कह सकते हैं कि योगी मन होता है, क्योंकि प्रिय की अलहदगी की व्यथा को पान कर वह मिलन की चाह से भर उठता है और मिलने के लिये आगे चल पड़ता है। दिल का आईना बाँध तोड़ देता है और कण-कण में अपने भीतर और बाहर, समस्त में उनकी ही दिव्य-छवि मानों हमें दर्शन की यह प्रथम हालत प्रदान कर देती है कि 'वह' घट-घट वासी है। अब

वियोग की व्यथा का पान, मन में मिलन की चाह अथवा तड़प को जन्म देती है। तड़प का भाग्य तो देखिये कि वियोग की सूक्ष्म व्यथा की अनुभूति में तो हमारा होश शामिल रहता है, लेकिन मिलन की तड़प बेचारी अपनी यात्रा में अकेली अग्रसर हो जाती है। हाँ, अन्तर में प्रिय के दर्शन की धूप-छाँव ही इसका मात्र अवलम्बन बन कर साथ हो जाती है। हम इस दैविक-दृश्य को स्थित-प्रज्ञ दशा में हुए खड़े देखते रह जाते हैं कि यह तड़प हमें तड़पा कर अब किसकी खोज में कहाँ चली जा रही है। यहाँ से ही हमारे अन्दर आत्मिक-दशा की दैविक सहज-गति का सम्बन्ध मिलना प्रारम्भ हो जाता है। श्री बाबूजी को यह दशा लिखने पर यह एहसास भी नहीं रहता था कि उन्हें अपनी दशा लिख रही हूँ या समक्ष में किसी दर्शाये हुये दृश्य के बारे में लिख रही हूँ। जानते हैं, ऐसा क्यों होता है ? तो सुनिये :—हिरण्य गर्भ, रचना की सृजनात्मक एवं रचनात्मक शक्ति का भण्डार है। यहाँ यात्रा में जिधर भी दृष्टि जाती है, उधर ही एक-एक अणु में संसार को रचने की शक्ति मौजूद मिलती है। कदाचित् इसीलिये इस देश की यात्रा के दौरान मैंने श्री बाबूजी महाराज को लिखा था कि 'मुझे लगता है कि सूर्य, चन्द्र, तारे, धरती एवं आकाश सब मेरे बनाये हुये हैं। हजारों सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी बल्कि संसार रचने की क्षमता एवं शक्ति मुझ में मौजूद है। उपर्युक्त में जो मैंने लिखा है कि 'दशा लिख रही हूँ' या समक्ष में दर्शाये दृश्य की दशा लिख रही हूँ' मेरे कथन की यह सत्यता हिरण्य गर्भ-देश की यात्रा के मध्य ही बिखरी हुई है, उससे आगे नहीं। आज इस पुस्तक लेखन के समय 'उनके' प्यार की फुहारें उनमें समाये हुये मन को गुदगुदा रही है कि इस देश की यात्रा में देखे हुए दृश्य का विवरण देते समय वह सब कुछ अभिव्यक्त कर दें जितना या जो कुछ भी लेखन-बद्ध हो सकता है नहीं तो इतना मलाल रह जायेगा कि अन्तर्चक्षुओं को क्यों न लेखिनी नसीब हुई और लेखिनी को क्यों

अन्तर्चक्षुओं ने नहीं छू पाया। आज दोनों का ही पावन संगम देकर 'मालिक' ने मेरी लेखिनी को धन्य कर दिया है।

भाई, अब यदि मेरे साथ आप और आगे की यात्रा में चलने का साहस एवं सद् इच्छा नहीं कर सकेंगे, तो फिर अधूरी यात्रा आपके जी में तिलमिलाती रह जायेगी। कितना कठिन समय हमारे समर्थ सद्गुरू श्री बाबूजी के समक्ष रहा होगा कि जब रचना की क्रियान्वित-शक्ति से परे, प्रकृति की शक्ति के प्रवाह की विपरीत दिशा (नीचे से ऊपर) में हमें ले चलना होता होगा। प्रकृति की सम्पूर्ण शक्ति का प्रवाह जो संसार को जीवित रखने हेतु ऊपर से नीचे की ओर बह रहा है, हमारे श्री बाबूजी महाराज को, हमें उस पूर्ण शक्ति से ऊपर उठाकर, ईश्वरीय-देश में स्थापित कर देना होता है। अपने बालक की उन्नति के हित और उसके जीवन के परम लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति को पूर्णता प्रदान करने के लिये ही वे सबको प्यार करने वाले, मेरे जीवन-सर्वस्व, इस असम्भव लगने वाले कार्य को भी कितनी तत्परता एवं अलौकिक-शक्ति द्वारा पूर्णता प्रदान करते हैं। आप यदि इसे देख पाते तो जीवन धन्य हो जाता। आप न्योछावर हो जाते अपने इन बाबूजी पर और बलिहार हो जाते इनके प्यार पर। उनकी इस महती कृपा एवं प्यार भरे कार्य की क्षमता के बारे में जानने के लिये मन की आँखें भी सजग एवं सजल हो उठती हैं। श्री बाबूजी महाराज अपने हृदय में हमें समेट कर ही नहीं, वरन् विलीन करके, अपनी परम दैविक-शक्ति का एक ही झटका देकर, प्रकृति की पूर्ण शक्ति से ऊपर ईश्वरीय-देश में हमें इस तरह से स्थापित कर देते हैं कि हम भौंचक से खड़े रह जाते हैं कि हम कहाँ आ गये हैं। अपने अभ्यास काल में इस दशा का अनुभव होते ही मैंने तुरन्त श्री बाबूजी को पत्र में लिखा था कि—"मुझे तो ऐसा लग रहा है कि मानों हृदय प्यार बनकर आपके चरणों में समा गया है। साथ ही मानों

हृदय प्यार बनकर आपके चरणों में समा गया है। साथ ही मानों मुझे आपने ईश्वरीय-गोद में डाल दिया है। वह भी इसलिये कि आप अपने संकल्प के अनुसार मुझे अन्तिम सत्य के देश अर्थात् सेन्ट्रल-रीजन में पहुँचाने के लिए तत्पर हैं। यहाँ तो लग रहा है कि आँखें मेरी नहीं हैं, बल्कि ईश्वरीय-दृष्टि ही मुझे प्यार में भिगो कर निहार रही है। इतना ही नहीं मुझे श्री बाबूजी में लय-अवस्था प्राप्ति की विशेष एवं अनोखी तथा अद्भुत रीति के विषय में समझा कर कह रही है कि "बिना इनमें लय-अवस्था पाये मेरे पास पहुँच पाना असम्भव एवं अगम्य है।" इतना ही नहीं, मानों वे दिव्य-नेत्र, वह ईश्वरीय-दृष्टि मेरे आस-पास प्यार भरा यह सन्देश दे रही है कि बिना लय-अवस्था पाये दिव्य सद्गुरु का हृद-द्वार नहीं खुलता है और बख्शीशें नहीं लूटी जा सकती हैं। ईश्वरीय-दृष्टि में समाये बिना और उसके विराट्-हृदय में लय हुए बिना ईश्वरीय-देश के दिव्य-दृश्य को निहार पाने की क्षमता प्राप्त नहीं होती है और 'उसके' प्यार की रीति को भी नहीं जाना जा सकता है। इस दिव्य-प्यार में नहाये बिना दृष्टि कैसे निखर पायेगी इन्हें, जो आज प्राणिमात्र को प्यार कर रहे हैं। इतना ही नहीं, मैं आध्यात्मिकता आदि के बारे में तो चाहे इतना नहीं समझ सकी हूँ, किन्तु इतना अवश्य कहूँगी कि सद्गुरु श्री बाबूजी में लय-अवस्था को पाये बिना आप यह रहस्य कैसे जान पायेंगे कि समस्त को प्यार करने का संकल्प लेकर ये ही आये हैं। इस रहस्य के उद्घाटन के बिना स्वयं ईश्वर भी मेरी इस पुस्तक के मस्तक पर कैसे सेहरा बाँध पायेंगे कि 'ममा' की शक्ति लेकर ये धरती पर आये हैं और सबको प्यार कर रहे हैं।

ध्यान के महत्व के विषय में तो लेखिनी ने बहुत कुछ लिखने का प्रयास किया है, किन्तु अब यह उत्सुकता हो रही है कि ध्यान में

रमे रहने के अभ्यास से अब समक्ष में फैले ईश्वरीय-दर्शन की इस अनुपम स्थिति के बारे में लिखने के लिये जब मेरे श्री बाबूजी ने ही भाग्य सँजो दिया है तो अब तो बस लेखिनी उठाने भर की देरी है। सहज-मार्ग में श्री बाबूजी के बताये ध्यान रखने के अभ्यास ने मुझे ध्यान की सहज-अवस्था को भी शुद्ध हालत में पहुँचाने का वरदान दिया है। हृदय को इसके लिये सीमा से भी स्वतन्त्र करके विराट् की सशक्त एवं शुद्ध दशा प्रदान की है। हृदय में उस दिव्य के प्रादुर्भाव से दर्शन की अवस्था भी प्रदान की। तब फिर समक्ष में मात्र दिव्य-हृदय (डिवाइन-हार्ट) ही रह जाने से अब हमारा केवल एक लक्ष्य रह जाता है 'उसकी' प्राप्ति। अब ऐसी दशा आ जाती है, तो फिर स्वतः ही उनसे हमारा प्रेम हो जाता है और हमारा नाता भी जुड़ जाता है। जब प्रेम हो जाता है तो प्यार की धारा हृदय में प्रवाहित होकर हमारे अन्तर को ऐसा बल प्रदान करती रहती है, मानों कह रही है कि 'जा और पा अपने प्यार को, देर न कर'। 'प्यार' का अर्थ ही है 'पा + यार' को और यह हमारे लिये सार्थक हो उठता है। मैंने देखा है कि मात्र ध्यान रखने का अभ्यास हमारे अन्तर की कितनी ग्रन्थियों को खोल देता है। श्री बाबूजी महाराज द्वारा लिखित पुस्तक 'अनन्त की ओर' में लिखित ग्रन्थियों का खुलते जाना और इनमें छिपी श्रेष्ठ गतियों और शक्ति का प्रसारण खुद में पाते जाना ही इस ध्यान रखने की विशेषता का दर्शन है। श्री बाबजी का स्पष्ट कथन है कि "मैंने ध्यान करने को नहीं कहा है, बल्कि ध्यान रखने को ही महत्व दिया है।" वास्तविक तथ्य भी यही है मैंने ध्यान करने के महत्व को अब तक नहीं समझा है, लेकिन ध्यान रखने का महत्व अवश्य मेरे समक्ष व्यापक है। ध्यान हम करेंगे भी किसका? व कैसे? जबकि हमें जिनका साक्षात्कार पाना है, मन जिनके ऊपर बलिहार है, 'वह कैसा है, यह हमें मालूम नहीं है। हाँ, यदि मुझ अभ्यासी ने 'उनसे' ही पूछने का साहस किया भी

होता, तो कदाचित् यही उत्तर पाती कि 'किसने कहा था कि बिना जाने - बूझे, बिना परिचय लिये 'उसे' अपनी आन्तरिक - सराय में ठहरा लूं। परन्तु 'वह' ठहरा भी और क्रमशः मनस्-सराय पर कब्जा भी करता गया और एक दिन 'वह' वहाँ बस गया और मुझे उजाड़ गया; यह कह कर कि 'वीराने की बहारें भी देख ले।' लेकिन मैं भी क्या कहती, सब कुछ देखती रही, परन्तु 'उसके' दिये वीरानेपन अर्थात् उस दिव्य-दिशा की बहारें भी अन्तर की फिजां में समा नहीं पा रहीं थीं। अन्तर्मन डूब-डूब कर उस दिव्य वीराने की बहारों का भी गुणानुवाद दशाओं के रूप में डायरी में लिख कर श्री बाबूजी के पास भेजने लगा और वे ?. लिखने लगे "मुबारक हो तुम्हें यह हालत जो लालाजी के करम से ही तुम्हारे अन्दर उतरी है। इतना ही नहीं, वे चाहेंगे तो वीराना भी बहार बन जायेगा और साक्षात्कार की घड़ी ला ही देंगे।" मैं तो आत्म-विभोर थी, क्योंकि आत्म-साक्षात्कार का पावन प्रसाद मुझे मिल चुका था। जीव अपने सहज रूप में निखार पा चुका होता है, जैसा कि यह रचना के समय भेजा गया था। समक्ष में परमात्म-साक्षात्कार की पावन दशा फैली होती है। फिर आगे बढ़ने में देरी क्यों हो ? आत्मा-परमात्मा से मिलन की राह में भाग पड़ी थी। अन्ततः अस्त-व्यस्त हो गया आत्म-चिन्तन और विभोर हो गया था मिलन और मैं खड़ी तब भी राह देख रही थी अपने बाबूजी की, क्योंकि अब मैंने पा लिया उनका वह दिव्य बिराट दर्शन जो सबको प्यार कर रहा है।

यहाँ पर एक तथ्य यह स्पष्ट करना आवश्यक हो गया है कि प्रथम आत्म-साक्षात्कार पश्चात् परमात्म-साक्षात्कार, फिर ईश्वर के साक्षात्कार की शुभ घड़ी समर्थ श्री बाबूजी महाराज हमारे लिये लाते हीं हैं, किन्तु जब तक साक्षात्कार शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक-दशा के

लिये हो सकता है, तब तक 'दुई' का भाव कहीं हमारे अन्तर में छुपा रहता है, क्यों कि उस परम स्थिति के परमानन्द का कहीं न कहीं भोग उस साक्षात्कार पाते हुये अभ्यासी के साथ लगा ही रहता है। अब यह भेद भी हमारे समक्ष खुल गया कि साक्षात्कार पाने तक किसी न किसी रूप में ध्यान हमारे में योग पाये हुए स्थित रहता है, इसके पश्चात् श्री बाबूजी जाने। वे ही इस सत्य की जिज्ञासा का मुख भी खुद ही खोल देते हैं। 'मालिक' को समक्ष में पाकर यह अन्तिम जिज्ञासा मानों हमेशा के लिये इस शर्म से चिलमन में मुख छुपा लेती है कि वह क्यों मुख खोलकर आगे न बढ़ सकी थी अपने 'प्रिय' का मर्म पा लेने के लिये। जरा सा ध्यान ही रख लेती उन्हें पा लेने का, तो 'वह' आँखें खोल देता कि वह परम प्रिय मुस्कुराता हुआ समक्ष ही खड़ा है। इतना ही नहीं, चिलमन में मुख छुपाकर भी अन्तर में झाँकती तो (जिज्ञासा) वहाँ भी 'वही' मुस्कुराता हुआ दर्शन देती। इसी लिये बस कुछ दूरी ही साथ चलकर वह जिज्ञासा भी उनमें ही लय होकर खुद को भी कृतार्थ कर लेती है। मेरी हालत तो अब स्वयं ही बोलती जा रही है, जिज्ञासा भी जानती है कि लेखिनी को हौसला देने वाले वे श्री बाबूजी ही तो हैं, मानों स्वयं का कथन सिद्ध करने के लिये ही तो उन्होंने मेरी लेखिनी को अपने दिव्य-आँचल का सहारा दिया है। मुझे विश्वास है कि अब आपके सोच ने भी आँचल तो फैलाया ही होगा यह जानने के लिये कि आखिर 'उनका' कथन क्या है ? तो सुनिये, उन्होंने कहा कि "मैं तो जो कुछ भी मानव मात्र के लिये अपने समर्थ सद्गुरू श्री लाला जी का दिव्य-वरदान लाया हूँ, वह लुटाकर ही जाऊँगा। यदि कोई 'उनकी' (लाला जी की) श्रेष्ठ बख्शीश को समेट पाने योग्य नहीं बन पाया तो पृथ्वी के आँचल में आकाश की छाँव के नीचे लुटा-कर ही जाऊँगा, ताकि समस्त को क्रमशः उनका भाग अवश्य मिल जाये। मेरा विश्वास है कि कभी कोई लेखिनी इस दैविक-कृपा को

समेट कर दिव्य-गतियों का वर्णन कर पायेगी तो यह मेरी सबसे बड़ी खुशी होगी।" लेकिन भला आप ही सोचें कि उनकी खुशी को बिना उनकी ही इच्छा के किस लेखिनी में सामर्थ्य है जो उनके दिव्य-कथन रूपी हीरे-मोती को अपने प्रेम में पिरोकर 'उन' पर बलिहार हो सके। सच तो यह है कि जिज्ञासा के मन नहीं होता है और लेखिनी के पास होश नहीं होता है, तो फिर जिज्ञासा को तो खुद ही उन पर बलिहार हो जाना होता है और लेखिनी प्रियतम के साथ ही हो लेती है, क्योंकि उसे चेतना नहीं है।

★

"यह चीज, जो तुम कर रही हो और हम सब लोग कर रहे हैं, पर उसी का झुकाव और विश्वास पूरी तौर पर हो सकता है, जिसको कि ईश्वर अब इस चोला छोड़ने के बाद दुनियाँ में लाना नहीं चाहता।"

× × ×

"एक बात जरूर ध्यान में रखना चाहिये कि किसी शख्स से ऐसे शब्द न कहे जायें, जो अगर वैसे ही हो जायें, तो उससे उसको तकलीफ़ पहुँचे।"

× × ×

"कुछ ख्याल ऐसा भी होता है कि ऋषि पतंजलि के वक्त में तुम मौजूद थीं और तुम उनको जानती थीं और उनके वाक्य सिर्फ सुने सुनाये दिल में तैरा करते थे। उस जन्म के बाद तुमने योगाभ्यास भी किया था, मगर उसको पूरा न कर सकी और उसी में मोक्ष पा गई। मुमकिन है, इस रिश्ते की वजह से तुम पर निगाह पुत्री की पड़ती है।"

—बहिन कस्तूरी को लिखे गये श्री बाबूजी के पत्र से उद्धृत।

"भूल की विशेष अवस्था एवं अंतिम अवस्था दिव्य-ईश्वरीय केन्द्र में समाप्त हो जाती है।"

यों तो भौतिक संसार में भी भूल की अवस्था आती ही रहती है, जैसे कहीं चाभी भूल गये, कुछ चीज़ रखकर भूल गये, किन्तु आध्यात्मिक-क्षेत्र में भी भूल की अवस्था कई बार और कई प्रकार से आती है। जैसे कि खुद अपने को ही बिसर जाना कि हम कौन हैं, कभी घर को ही बिसर जाना कि हमें कहाँ जाना है, कभी अपने रूप तक को भी न पहिचान पाना, आदि। वास्तव में कभी यह भी विस्तृत हो जाता है कि माँ जो सामने है, वह है, अथवा जो अन्तर में समाई बैठी है, वह है। कभी स्पर्श भी इस क़दर भूल जाता है कि यह तक पता नहीं चल पाता है कि मेरे पैर पृथ्वी को छू रहे हैं या बिना ज़मीन छुये ही मैं कहीं और एक आन्तरिक-धुन की धारा में बहती चली जा रही हूँ। आगे चल कर एक पावन एवं मन को मोहित कर लेने वाली भूल की ऐसी अवस्था में से भी हम गुज़रते हैं कि जहाँ लेखिनी यह भी भूल जाती है कि वह क्या लिखने जा रही है? और लिख बैठती है श्री बाबूजी को कि "मैं नहीं जानती हूँ कि मैं अपनी आध्यात्मिक-दशा आपको लिख रही हूँ या आपकी ही दशा आपको लिख रही हूँ।" किन्तु यह सब स्थितियाँ तो आध्यात्मिक-क्षेत्र में 'मालिक' में लय-अवस्था की प्राप्ति के कारण ही सम्भव हो पाती है। परिवर्तित होती हुई हमारी भूल की दशायें मात्र उनकी ही पावन प्राणाहुति का प्रवाह

पाकर उनकी ही कृपा-दृष्टि द्वारा, उनकी इच्छा-शक्ति से ही हमें प्राप्त होती जाती है, परन्तु अलौकिक एवं अनूठी होती है ईश्वरीय दिव्य-देश की यात्रा में पाई हुई भूल की वह अन्तिम और अद्भुत अवस्था जो खुद को भी भूली हुई, ईश्वरीय-धारा में नहाई हुई विशुद्ध पुष्प के समान पग-पग पर हमारे अस्तित्व को भी स्वयं में विलीन करके बिखर जाती है अपने प्रियतम के पावन चरणारविन्दों में। ईश्वरीय-देश में, ईश्वरीय-साम्राज्य की दिव्यानुभूति में पगी हुई यह दैविक भूल की अवस्था मानों पी जाना चाहती है वहाँ के दिव्य रस को, क्योंकि मानों अब तक पाई हुई सन्तगति, तुरियावस्था, ब्रह्म-गति सहित समस्त श्रेष्ठ गतियों का नशा हमारे होश में खुमारी के रूप में कहीं न कहीं भूल की अवस्था में शेष रहता है, इसलिये ईश्वरीय-देश की यात्रा में भी उतार कर श्री बाबूजी मानों उस दिव्य ईश्वरीय-साम्राज्य के योग्य बना कर हमें वैसी ही (जैसी आवश्यक है उस स्थान के लिए) विशुद्ध भूल की अवस्था में तो आते हैं। श्री बाबूजी महाराज ने जैसा मुझे पत्र में लिखा था कि "परमानन्द का अन्दाज़ भी अब तुम्हें नहीं है, लेकिन आनन्द की खुमारी अभी बाकी है। जब तक खुमारी भी बाकी है, तब तक मैं यही कहूँगा कि आनन्द का भोग तो बाकी रहा ही।" आगे फिर लिखा कि "तुम्हीं बताओ कि जहाँ की हर चीज़, हर अन्दाज भी शाश्वत् है, क्योंकि ईश्वर शाश्वत् है, हमेशा रहने वाला है, सर्व शक्ति-मान है, तो वह इस खुमारी को कैसे सहन कर सकता है। शायद यही कारण है कि शरीर (जो नश्वर है) धारण किये हुए यहाँ ईश्वरीय-गति में स्थिर रह पाना असम्भव होता है; इसलिये यह ध्रुव-सत्य समक्ष में घूम जाता है कि यदि श्री बाबूजी महाराज अपनी दिव्य इच्छा-शक्ति से हमें इस देश की दशा में स्थिर न करें, तो कबीर की तरह हम ईश्वरीय-दशा को ओढ़ तो सकते हैं, परन्तु उसमें स्थिर नहीं रह सकते हैं। इसीलिये यहाँ ईश्वरीय-साम्राज्य में स्वयं उसको भी भुलाये रखने

वाली अवस्था के खुमार को भी हममें से श्री बाबूजी उतार कर रख देने वाले हैं। जानते हैं क्यों ? क्योंकि कुशल दिव्य-सद्गुरु ईश्वर-प्राप्ति को प्रदान करने की सम्पूर्ण बारीकी को जानने वाले हमारे श्री बाबूजी महाराज ही दैविक ईश्वरीय-देश में पाई भूल की अवस्था को भी हमें इसलिये भुला देते हैं, क्योंकि ईश्वर एक है। और उसे स्वयं अपने होने का भी पता नहीं है कि वह ईश्वर है। कैसा दिव्य एवं अनुपम समाँ फैला होता है यहाँ कि चारों ओर यहाँ ऐसा लगता है कि मानों यहाँ जर्रा-जर्रा हमें प्यार से पुकार रहा है कि "समा जाओ मेरे में, क्योंकि मैं तुम्हारा हूँ।" यहाँ इस अनुपम-दशा की प्राप्ति हो जाने पर श्री बाबूजी महाराज का कथन मानों हमारे समक्ष बोल उठता है कि ईश्वर तो सबको प्यार करता है, चाहे उसे कोई प्यार करे या न करे। नहीं तो उसको ध्यान में रखने के बजाय लोग अपने ध्यान की नश्वर धारा में ही व्यस्त रहते। इतना ही नहीं, मैंने देखा है कि ईश्वरीय-देश की यात्रा का आनन्द देते हुए वे हमें साक्षात्कार का सौभाग्य प्रदान करने के लिये ईश्वरीय-केन्द्र में प्रवेश देते हैं या यों कहें कि 'उनके' घर में ही प्रवेश दे देते हैं। तब वहाँ की अलौकिक भूल की अवस्था, जो वे हमें क्षण भर के लिये ही बख्शते हैं, मानों हमें यह बताती है कि साक्षात्कार का समय या ऐसी शुभ घड़ी लाने के लिये वे स्वयं हमारे और उनके (ईश्वर के) मध्य में पुनः पुनः आ खड़े होते हैं और ये ही क्षण हमें दिव्य भूल की अवस्था की प्रतीति प्रदान करते हैं ताकि हममें 'हमारेपन' अर्थात् अहं की बदसूरती समाप्त होती जाये और उसके स्थान पर वहाँ का दिव्य सौन्दर्य स्थान पाता चला जाये। ऐसा इसलिये होता है कि वहाँ उस दैविक सौन्दर्य के अलावा अन्य का प्रतिबिम्ब भी ठहर पाना असम्भव होता है तभी यह कहावत सिद्ध हो जाती है कि—"तुझ सा केवल तू है।" श्री बाबूजी की कृपा एवं प्यार को देखिये कि जितनी सी देर वे हमें लक्ष्य-प्राप्ति की भी भूल की अवस्था में बिखेर देते हैं, उतनी

सी ही देरी में वे हममें ईश्वरीय सौन्दर्य का सौन्दर्य प्रदान करते चलते हैं। शरीर से धरती पर रहने वाले हम मानव भी भूल की अवस्था को भी भूल कर ही वहाँ की दिव्य-दशा में स्थिर रह पाते हैं और अन्त में ईश्वर में भी लय-अवस्था प्राप्त कर पाते हैं। यह सब तो श्री बाबूजी की कृपा के सहारे से ही सम्पन्न हो पाता है। उनमें पूर्ण लय हुए बिना धरती का साया, आसमान का स्पर्श कभी नहीं पा सकता है। उनकी ही दैविक-कृपा की देन है कि आज मैं सब कुछ जानकर भी अनजान अवस्था की दैविक-ओढ़नी की ओट में जी रही हूँ। मेरी यह पुस्तक इस बात का प्रमाण है कि यह वास्तविकता हमारे समक्ष प्रगट हो गई है कि 'वह' सबको प्यार करता है और आज पृथ्वी को अपने दिव्य-चरणों का चुम्बन देकर सबको प्यार कर रहा है और करता रहेगा।

"एक बात मैं तुम्हें बतलाता हूँ कि मान और अपमान, इन दोनों से हमें कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहिये। अपमान तो बहुत शीघ्र छूट जाता है, मगर भाई, मान का तोड़ना, सच में ईश्वराधीन ही है। जब ईश्वर की हमारे ऊपर पूर्ण कृपा होती है, तभी पीछा छूटता है, फिर भी जब तक शरीर उपस्थित है, इसका कुछ न कुछ अवश्य शेष रह जाता है।"

—बहिन कस्तूरी को लिखे गये श्री बाबूजी के पत्र से उद्धृत।

चेतना

(मुख्य केन्द्र–द्वितीय श्रोत)

'चेतना' शब्द पढ़ कर कदाचित् ही कोई ऐसा हो जो इसका व्यापक अर्थ जान सके, क्योंकि इसका सम्बन्ध एवं इसकी वास्तविकता (रियेलिटी) क्या है, इस तथ्य को जानने की उत्सुकता मन की सोई दैविक-चेतना को चेतन कर देती है, क्योंकि इससे लेखिनी का द्वितीय श्रोत से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध हैं। इसीलिये चेतना के तथ्य को उजागर कर देने की क्षमता भी लेखिनी को ही प्राप्त होती है। लीजिए सुनिए — सर्वप्रथम मुझे इसका (जिज्ञासा) परिचय तब मिला, जब आदरणीय मास्टर ईश्वर सहाय जी द्वारा सहज-मार्ग में प्रथम डग भरने के लिये प्रथम सिटिंग प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। सिटिंग में ध्यान में बैठने पर लगा कि अन्तर में कोई चीज जाग उठी है, किन्तु अभी मानों सुस्ती आँख मल ही रही थी कि दूसरी सिटिंग मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, तब लगा कि वह अलसाई दैविक-चेतना सच ही सुषुप्त-अवस्था को त्याग चुकी थी। अब हार्दिक-आनन्द के अनुभव का वह दृश्य जब आँखें फैलाये मेरी ओर देख ही रहा है, तो मेरे अनुभव में भर जाने के लिये लेखिनी कंजूसी क्यों करती। अनुभव ने मुझे बताया कि अब तक मैं जिसमें जाग रही थी, यह भौतिक चेतना थी। यद्यपि बचपन से सत्संग मिलते रहने के कारण इस भौतिक-चेतना में कहीं राम-कृष्ण भगवान् के दर्शन की भी चाहना जुड़ी हुई थी; इसी कारण तब तक की खोज व साधना वाह्य में ही व्यापक थी, किन्तु सहज-मार्ग साधना द्वारा जब अन्तर में ईश्वरीय-धारा का प्रवाह, जो प्रशिक्षक के द्वारा ध्यान में बैठने पर अन्तर में मिला, तो उसने सुषुप्त जिज्ञासा

को प्रथम सिटिंग में मानों थपथपाया था और दूसरी सिटिंग में चेतना को चेतन कर दिया था कि ईश्वर तो तेरे अन्तर में ही है। फिर प्राणाहुति में पाये अनुभवों को पढ़ने के लिये इस बात के लिए चेतन कर दिया कि "बहुत सो ली तू, अब उठ, चल वतन की तैयारी कर।" तीसरी सिटिंग ने चेतना को इस सत्य से सजग भी कर दिया कि तुझे एवं समस्त को जगाने के लिये कोई दिव्य-विभूति, दिव्य-शक्ति के प्रवाह को अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा मानव-अन्तर में प्रवाहित करने के लिए उतर आई है। बस, तब से ही वह जागृत हुई चेतना हृद-द्वार पर टकटकी लगाये बाट जोहती रही कि कब वह, जो समस्त के लिये इतना प्यार लेकर पृथ्वी पर आया है, हृदय में प्रवेश करके इसे पावन और मुझे सौभाग्यशालिनी बनायेगा। क्रमश: इस चेतना ने सोई हुई दैविक-चेतना (कान्शस्नेस) से नाता जोड़ लिया और मन में उत्सुकता को जन्म दिया और स्वयं सजग प्रहरी की भाँति स्थिर हुई हृद-द्वार की चौखट की स्वामिनी बन बैठी। क्रमश: अन्यथा विचारों ने आना-जाना बन्द कर दिया, या यों कहें कि अन्यथा विचारों का माइण्ड तक पहुँच पाना ही बन्द हो गया, तो फिर हृदय में क्या रहा? मात्र 'उसके' अर्थात् ईश्वरीय-आविर्भाव की सतत प्रतीक्षा। यह सत्य भी तब प्रत्यक्ष हो उठा जब से कि प्रतीक्षा की पलकें भारी रहने लगीं, प्रतीक्षा की नशे की खुमारी से, और नेत्र सदैव उनके पधारने की आकांक्षा के लिये उनके आगमन की प्रतीक्षा में खोये रहे। इस दशा के सहारे ही मेरी लेखिनी गुनगुना उठी थी :—

निगाहें दर पै लगी हैं, पलके बिछाये बैठे हैं।
तू जरूर आयेगा, आशा सँजोये बैठे हैं॥

इस हालत पर पूर्ण रूप से पहुँचने पर हृद-देश (हार्ट-रीजन) में प्रवेश मिल जाता है और हमारा होश खो जाता है। इसी को लिखने

पर श्री बाबूजी महाराज ने मुझे लिखा कि—"अब फॉरगेटफुल-स्टेज पैदा होने लगी है।" तभी से इसका पता सूक्ष्म-चेतना में स्वतः ही पहुँचना या प्रवाहित होना प्रारम्भ हो जाता है। क्रमशः सूक्ष्म-चेतना, चेतना की बेहोशी या बेख़बर होने का लाभ उठाकर सिटिंग में प्रवाहित ईश्वरीय-धारा की पावनता से स्वयं को भरने लगती है। फिर एक समय ऐसा आ ही जाता है कि सूक्ष्म-चेतना अपने सहज-चेतन में लय हो जाती है, और तब रह जाता है सहज दैविक-चेतना का फैलाव, जो उस दैविक-शक्ति को अधिक से अधिक पीकर मतवाली होती जाती है और यह ठान-ठान बैठती है कि अपने देश अर्थात् हृद-देश में उसका दर्शन पाना ही है। अब एक प्रश्न समक्ष में उभर आता है कि कहाँ तक होगा हृद-देश (हार्ट-रीजन) का पसारा? इसकी प्रत्यक्षता तो यही मिलती है कि ईश्वरीय विराट् तक तो हृद-देश हैं, जो समस्त में व्याप्त है। इसी लिये तो जब हमारे दिल के आईने में 'वह' प्रत्यक्ष हो जाता है, तब मानों उसकी अनन्तता ही हमारे दिल की सीमा का विच्छेदन कर देती है। इतना ही नहीं, समस्त में फैले ईश्वरीय-विराट् में हमें मिलाकर स्वयं भी अन्ततः लय हो जाती है। इस प्रकार हम हृद-देश पार कर जाते हैं और हमें उसके घट - घट वासी रूप का दर्शन मिल जाता है। आप देखें कि श्री बाबूजी महाराज द्वारा बताये ध्यान को रखने का अभ्यास, हमें अभ्यास से भी परे ले जाकर, इस विराट् हृद-देश में लय करके मानों हमें विराट् हो जाने का यह दैविक संदेशा प्रदान कर जाता है कि तुझे विराट्-दशा में प्रवेश मिल गया है। ध्यान रखने का कार्य तो घट-घट वासी ईश्वर के दर्शन मिल जाने पर समाप्त हो जाता है, क्योंकि अब तो ध्यान सतत् रूप से रहने ही लगता है। चेतना अपनी सहज-अवस्था को पाकर कृतार्थ हो जाती है। अब सहज एवं सूक्ष्म चेतना के समक्ष व्याप्त मिलता है 'बिग माइन्ड' अर्थात् हिरण्य गर्भ का देश अर्थात् माइन्ड रीजन। देखें इसकी यात्रा में कौन-

कौन सी दैविक-गतियाँ हमें प्राप्त होती जाती हैं और कैसे वहाँ की शक्ति हमारे में प्रवाहित होकर मानों हमें बतलाती हैं कि यह शक्ति अब तुझे आध्यात्मिक गति से सजा कर यहाँ तक पहुँचाने वाले में ही लय कर देती है और यह संकेत देती है कि उनमें लय-अवस्था पा जाने के कारण ही यह श्रेष्ठ गति तेरे भाग में उन्होंने जोड़ दी है। इतना ही नहीं, यहाँ की श्रेष्ठ गति एवं शक्ति का पता देने के लिये वे परम इष्ट इस वृहत-देश की परा-चेतना अर्थात् सुपर कान्शस्नेस भी प्रदान कर देतें हैं, तभी तो हमें इसमें प्रवेश पाने की पहचान मिलती जाती है। यहाँ वृहत्-देश की यात्रा व दशाओं का अनुभव अथवा ज्ञान भी प्रदान कर देते हैं। साथ ही यह कहना नितान्त आवश्यक है कि यहाँ अपने समर्थ सद्गुरु श्री बाबूजी में लय-अवस्था पाये बिना हमें कौन पता दे पायेगा कि हम कहाँ हैं। संसार को जीवन देते रहने वाली प्रकृति की इस परम-(परा) शक्ति के क्रियान्वित होने का अदृश्य दृश्य का दर्शन सदा सर्वदा अपने बाबूजी के ध्यान में विलीन हो जाने पर ही मिल पाता है। प्रेम और भक्ति एवं सहज-ज्ञान जब सभी कुछ यहाँ विलीन हो जाता है, तभी परा-चेतना का योग हमारे में सम्भव हो पाता है। फलस्वरूप तब कोई अभ्यासी कैसा भी प्रश्न हमसे पूछता है तो लगता है प्रश्न सीधे कहीं और जाकर टकराता है और मुख तो हमारा होता है किन्तु उत्तर कहीं और से आता है।

अब भला यात्रा तो यात्रा ही है, सो यह तो पूर्ण होती ही है, चाहे वह हृद-देश की हो, चाहे हिरण्य गर्भ की हो या ईश्वरीय-देश की हो। फिर जब ले चलने वाला ऐसा महान् मिल जाये, जो यह दिव्य-संकल्प एवं शक्ति भी लेकर आया है कि प्राणिमात्र साक्षात्कार पाने के योग्य बन सके। इतना ही नहीं, वे हर आत्मिक-दशा में हमें नहला कर तैयार करते हैं, जिससे अपने दिव्य-संकल्प की छाँव में पाल कर, हमें

अपने साथ आगे बढ़ाते जायें। तब से ही मैंने पाया कि एक ऐसी दिव्य-मुस्कान की छटा उभर आती है उनके दिव्य मुखारविन्द पर जो रह-रह कर मानों हमें यह याद दिलाना चाहती है कि वे सतत् हमारे साथ हैं, किन्तु याद को भले ही यह याद न रहे कि कौन हमारे साथ है, परन्तु मेरे समक्ष तो यही नज़ारा था कि मानों मैं किसी दिव्य-संकल्प का नूर बन गई हूँ या सही अर्थ में उनकी नूर-चश्मी बन गई हूँ। अब जब उन्होंने अपनी नूर-चश्मी के रूप में मुझे खुद में स्वीकार कर लिया तो अब वे शायद कुछ भी मुझसे छिपाना नहीं चाहते हैं। ईश्वरीय-देश की यात्रा के बाद सेन्ट्रल-रीज़न के द्वार पर वहाँ के दिव्य-वैभव के पसारे में पुनः अपने दैविक-संकल्प में लय करके, मुझे भूमा के पसारे के बीच खड़ा कर दिया। इस अद्भुत वैभव के पसारे की दशा में मैं यह भूल जाती थी कि वे स्वयं खड़े थे या मैं खड़ी थी। हाँ, इतनी कृपा भी करते जाते थे कि मानों मुझ अस्तित्व विहीन के अस्तित्व का स्पर्श देकर यह संकेत अवश्य देते जाते थे कि यह 'भूमा' के दिव्य-वैभव का देश अर्थात् सेन्ट्रल-रीज़न है। कितनी महती-कृपा है उनकी. कैसा अनूठा दैविक-कार्य है उनका कि जिस अनन्त-विस्तार के देश की समझ वे हमें प्रदान करना चाहते हैं, तो वहाँ की दिव्य-चेतना से योग भी हमें प्रदान कर देते हैं। कैसी अपूर्व-गति एवं अनूठी विशिष्टता (कैरेक्टर) है यहाँ की, कि इस देश में प्रवेश मिलने पर भौंचक हुए हम यह भी भूल जाते हैं कि हम कहाँ खड़े हैं, अर्थात् यहाँ अस्तित्व (आइडेन्टिटी) भी अपने अनन्त-देश के अनन्य एवं अतुलित पसारे की पहचान करने से नकारने लगता है। इस प्रकार इसमें प्रवेश पाने के लिए पहले श्री बाबूजी 'सत्य पद' पर स्थापित करते हैं, पुनः आगे बढ़ने के लिए दिव्य-शक्ति का पुश देकर आगे बढ़ा देते हैं, जिससे अस्तित्व-विहीन अस्तित्व की भी महाप्रलय हो जाती है। यहाँ मेरे 'मालिक' के अनन्त रूप के दर्शन की सहज-गति भी अपूर्व हो जाती है। यहाँ पर लगता है

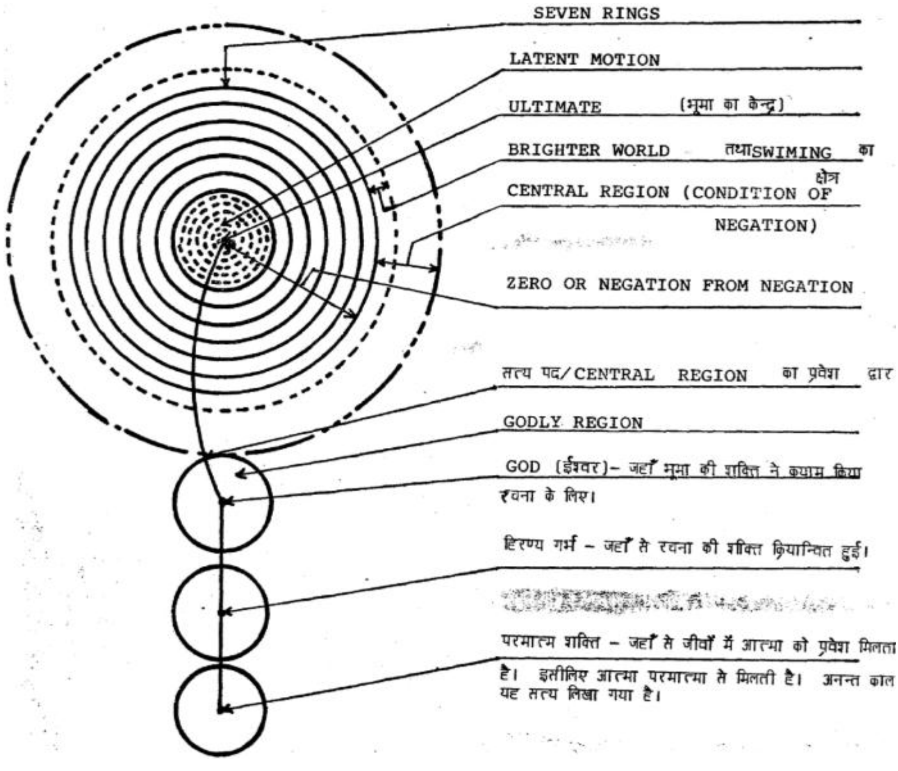

SEVEN RINGS
LATENT MOTION
ULTIMATE (भूमा का केन्द्र)
BRIGHTER WORLD तथाSWIMING का क्षेत्र
CENTRAL REGION (CONDITION OF NEGATION)
ZERO OR NEGATION FROM NEGATION
सत्य पद/CENTRAL REGION का प्रवेश द्वार
GODLY REGION
GOD (ईश्वर)- जहाँ भूमा की शक्ति ने कयाम किया रचना के लिए।
हिरण्य गर्भ - जहाँ से रचना की शक्ति क्रियान्वित हुई।
परमात्म शक्ति - जहाँ से जीवों में आत्मा को प्रवेश मिलता है। इसीलिए आत्मा परमात्मा से मिलती है। अनन्त काल यह सत्य लिखा गया है।

कि अपने साथ होने का अन्दाज तो वे हमेशा देते ही रहते हैं, किन्तु स्वयं मानों अपने इस अद्भुत-देश के 'मालिक' इस अपने केन्द्र 'भूमा' में ही विद्यमान हो जाते हैं। ऐसा मैं इसलिए लिखने का साहस कर सकी हूँ, क्योंकि भौंचक खड़ी हुई मुझे समक्ष में उस दिव्य-केन्द्र के वैभव का पसारा तो दिखाई पड़ता है, परन्तु जब उनका ख्याल आता तो लगता था कि वे अपने केन्द्र में ही विद्यमान हैं। सच तो यह है कि इस दिव्य-देश के अपूर्व वैभव को समझा पाने के लिए वे हमें वहाँ दिव्य-चेतना भी प्रदान करते हैं। उनकी दैविक-शक्ति का धारा-प्रवाह, भौतिक स्तर से उन्नति करते हुए आध्यात्मिक-स्तर के प्रवाह में पड़ जाने पर स्वतः ही दर्शन की चारों अवस्थाओं में स्पष्टतः भरता चला जाता है—जैसे घट-घट वासी होना, सर्वव्यापी होना, सर्वशक्तिमान होना और ईश्वरीय-शक्ति के आधिपत्यमय दर्शन की अवस्था का भी दर्शन होना—मानों सब उनकी ही शक्ति का खेल था और उनमें पाई हुई लय-अवस्था का ही दैविक प्रसाद था। इतना ही नहीं, यह लिखते समय ऐसा लगता है कि मानों लय-अवस्था के प्रभाव में ही प्रथम तो उस दिव्य-विभूति से दूरी में प्रवेश दिया, फिर वियोग की व्यथा की जब सीमा पार हो गई, तो सामीप्यता का सुख प्रदान किया। पुनः सारूप्य अवस्था को अन्तर में उतार कर आने वाली हालत के साथ अपने लोक में भी प्रवेश दिया, अर्थात् सालोक्य में पसारा अर्थात् फैलाव दिया। खुद को 'भूले रहने' की अवस्था भी जब गहन हो जावे, तो फिर वहाँ स्थिर रहकर वहाँ के आनन्द को आज लेखिनी में बद्ध करके आपके सम्मुख रख पाने की क्षमता भी कौन प्रदान कर सकता है, इसीलिये 'मालिक' ने सूक्ष्म-चेतना का सहारा भी प्रदान किया। अब आप ही देखें कि यह लेखिनी जो आगे लेखन के लिये तैयार है, कुछ भी सोचने की ताब इसमें शेष नहीं है, तो फिर अच्छा यही हुआ कि यह उनके चरणों में ही नत हो कर बैठ गई, मानों विनती कर रही है

कि पीपे भेद का उन्मूलन उनकी कृपा के बिना स्पष्ट नहीं हो सकता है। तब फिर उनकी कृपा की कोर ने ही उठ कर मेरी लेखिनी को बख्शीश दे दी है, तभी से यह पुनः चल पड़ी है। अब चौथी एवं ज्ञान, ध्यान, दर्शन की अन्तिम-अवस्था हमारे समक्ष स्पष्ट हो रही है मानों यह परम-गति अपने बारे में स्वयं ही बोल रही है वह है सायुज्य-गति जिसकी विशेष उज्ज्वलता हमारी मति हर लेती है, क्योंकि उनकी कृपा का दैविक-आकर्षण इस अस्तित्व से भी निकाल कर, अब हमें स्वयं में सजा कर, उस योग्य सवाँर कर ईश्वर में भी लय करके वरदान प्रदान कर देता है। अब हमारा पूर्ण समर्पण उन्हें स्वीकार हो जाता है। इतना ही नहीं, बल्कि इसकी भी सहज गति, सहज-समाधि के रूप में हमें प्राप्त हो जाती है। जानते हैं ऐसा क्यों होता है, क्योंकि उनकी दिव्यता में लय होकर अपने अस्तित्व की याद भी बिसर जाती है और हमारे अस्तित्व के अवशेष में सहज-समाधि अवस्था की अन्तिम अवस्था जड़-समाधि का ही साम्राज्य उतर आता है। इस पुस्तक के लेखन में मैंने यह सत्य प्रत्यक्ष हुआ पाया है कि आज मैं सब कुछ जानकर भी अनजान हुई दैविक एवं भूल की भोली अवस्था के दैविक एवं झीने घूँघट की ओट में जी रही हूँ। कदाचित् यही कारण रहा होगा कि इस पुस्तक के लेखन के लिये मेरा गीत स्वतः में ही गुनगुना उठा था कि :—

'सपन की ओढ़नी में जागे सपना सा रे।'

दिव्य-चेतना हम में नहीं होती है, हमें मिलती भी नहीं हैं, क्योंकि वह तो आदि-स्थान की चेतना है। इसे यों भी कह सकते हैं कि यहाँ दिव्य-चेतना भी होती नहीं है, क्योंकि यहाँ भला चेतना की गम्य ही कहाँ हो सकती है। वह तो आदि-उद्गम (सोर्स) है अर्थात् 'उससे' सब कुछ है, परन्तु उसमें स्वयं में कुछ नहीं है। मेरे 'मालिक' ने मानों

इसका भी रहस्य मुझें लखाया है। वह यह है कि यहां उसके देश अर्थात् मुख्य-केन्द्र (भूमा के केन्द्र) का सहज-प्रतिबिम्ब का ही पसारा है, जिसका पता खुद 'उसे' (भूमा को) ही नहीं है। यदि उसे इसका पता होता तो वह हमें यहाँ की चीज दिव्य-चेतना भी प्रदान कर देता। इसका पता तो हमें लगता है उसके देश में ही जाकर, जब पृथ्वी पर उतरी हुई दिव्य-विभूति, अपने दैविक संकल्प में हमें लय करके, वहाँ के प्रतिबिम्बित-वैभव में हमें पैराव (Suriming) देती है। दिव्य का वर्णन तो दिव्य चेतना द्वारा ही ग्रहण करते हुये लेखिनी द्वारा उतारा जा सकता है। कदाचित् यह राज भी मानव-मात्र के लिये सुलभ कर देने को और वहाँ के दिव्य-वैभव का प्रसाद भी समस्त के के लिये सुलभ है। ऐसी आशा से सारे दिलों को प्लावित बना देने के लिये ही आज श्री बाबूजी महाराज ने लेखिनी को वहाँ का स्पर्श प्रदान करके वहाँ के इस दिव्य-प्रतिबिम्ब (Divine-charactor) को चेतना विहीन चेतना का योग देकर अपनी नूर-चश्मी (लेखिका) को प्रदान किया है। यहाँ लेखिनी द्वारा जो भी लिखा जाता है, ऐसा लगता है कि समक्ष में अलिखित ही लिखा हुआ सा है। अलख ही लखा हुआ सा एवं लेखन से भी परे को हम लेखिनी बद्ध करते जा रहे हैं। कैसा अचम्भा तो तब होता है, जब हम यहाँ देखते हैं कि परा-चेतना (Super-consciousness) ईश्वरीय-देश के दर्शन के लिये पारदर्शी-शीशे के समान है। इसकी प्राप्ति के पश्चात ही हम उस दिव्य-देश की दिव्य-यात्रा का हाल समस्त के समक्ष रख पाने में समर्थ हो पाते हैं। यहाँ की हर गति, हर अनुभूति असल ही प्रतीत होती है। यहाँ तक कि लिखो तो असल, बोलो तो असल, देखो तो असल बस यों कहें कि मात्र असल का ही पसारा है। यहाँ पाई हुई परा-चेतना पारदर्शीशीशे के समान असल ही होती है। आगे भला असलियत के बारे में क्या लिखा जा सकता है। असलियत यह भी है कि जब ईश्वरीय-दिव्य-देश की यात्रा में ही हम

यह नहीं लिख पाते हैं कि यह हमारी दशा है, वरन् लेखिनी यही लिखती है कि मैं दशा की दशा लिख रही हूँ, क्योंकि यहाँ ऐसा ही लगता है कि यह दशा तो यहाँ दिव्य - देश में फैली हुई है। 'मालिक' द्वारा बनाये हुए हम में इसका जो प्रतिबिम्ब है, उसे ही हम अपनी दशा कहते हैं, किन्तु लेखिनी तो यही लिखती है कि मैं दशा की दशा लिख रही हूँ। अब यहाँ दिव्य - चेतना विहीन चेतना असल के अर्थ को भी पीछे छोड़ती हुई यों आगे बढ़ जाती है मानों यह समक्ष में अब मुख्य-केन्द्र का वैभव एवं प्रतिभा है। इतना ही नहीं, यहाँ ईश्वरीय - चेतना मुख्य-केन्द्र के ही वैभव का प्रतिरूप हो जाती है।

卐

"बन्धन जीव में भी है और ब्रह्म में भी। अन्तर केवल इतना है कि जीव में बन्धन ज्यादा और ठोसता लिये हुए है और ब्रह्म में सूक्ष्मता लिये हुए। मगर अपने-अपने लिहाज से Limitations (सीमायें) दोनों में है। वेद में २४ प्रकार के ब्रह्म लिखे हैं, या २६ हों और आखिरी ब्रह्म को 'भूमा' कहते हैं।"

—बहिन कस्तूरी को लिखे गये श्री बाबूजी के पत्र से उद्धृत।

ज़ीरो अथवा शून्य

(तृतीय स्रोत)

आज यह मस्तक नत है उनके पावन चरणों में, जो दैविक-विभूति के रूप में धरा पर छाये हुए हैं। वे ही मेरी लेखिनी में साहस भर रहे हैं आगे का विवरण देने के लिये। आज मैं इस पुस्तक में उस अलौकिक एवं अनोखे विषय का रहस्य खोलने जा रही हूँ, जिसका नाम उन्होंने अपनी पुस्तक में 'ज़ीरो' (Zero) अर्थात् 'शून्य' दिया हुआ है। ज़ीरो तो ज़ीरो है, अर्थात् 'शून्यावस्था' के विषय में भला क्या लिखा जायेगा; यह न तो लेखिनी को पता है, और न मुझे ही। सत्य तो यह भी है कि ज़ीरो को भी नहीं मालूम कि वह क्या है? अब यह तो प्रकट हो ही गया कि विषय ही गोल अर्थात् ज़ीरो है, तो उत्तर भी ऐसा ही होना चाहिये; किन्तु लेखिनी के लेखन हेतु कुछ मिल रहा है, क्योंकि शायद कोई घूँघट के पट खोल रहा है उसके अपने ही विषय में कुछ बोलने के लिये। आखिर आदि-शक्ति के दर्शन के विषय में कुछ न कुछ लिखने का सौभाग्य तो वे देंगे ही। तभी तो यह मेरे गीत की इस पंक्ति की प्रत्यक्षता प्रदान करेगी कि—

" 'संध्या' सलवट ओढ़नी की देखते ही रह गये।"

तो इस दैविक-अवस्था के विषय-लेखन का अब आरम्भ होता है। सृष्टि यानी रचना के लिये, आदि - शक्ति से उद्‌धृत हुई आवश्यक-शक्ति अपने उद्‌गम से जहाँ पर गिरकर स्थापित हुई वह ईश्वरीय-केन्द्र हुआ। अनन्त से उद्‌धृत हुई शक्ति भी अनन्त ही होगी और रचना के

लिये जरूरत भर शक्ति की ही आवश्यकता थी, अतः आदि-शक्ति का प्रसारण क्रमशः एकत्रित-शक्ति के रूप में न आकर गोल घेरे (Rings) के रूप में बँट गया, जिससे आदि एवं प्रवाहित अनन्त आदि-स्रोत की शक्ति का प्रवाह सीधा (Direct) न होकर, सम-अवस्था में रहे और फोर्स (Force) उत्पन्न न हो। दूसरी बात यह है कि उद्धृत-शक्ति तो अनन्त - शक्ति की नग्न - शक्ति (Power) थी, जिसे धारण ही कौन वातावरण कर पाता। इस दशा में यह भी सम्भव हो सकता था, कि धारण न कर पाने से शक्ति पुनः लौटकर उद्गम में ही मिल जाती। इसी कारण प्रथम तो उद्धृत-शक्ति ने स्वतः ही सात रिंग्स (Rings) की शक्ल ले ली, इसके पश्चात् सीधे (Direct) फोर्स का दबाव कम होता गया और शक्ति का पसारा फैलता गया, जिसे श्री बाबू जी ने सेन्ट्रल - रीजन (Central Region) का नाम दिया है। 'मालिक' ने जहाँ तक समक्ष में विवरण बिखेरा है, मैंने यही पाया है कि इन सात रिंग्स की अवस्था को ही श्री बाबू जी ने 'जीरो' के नाम से लिखा है। इस गहन दैविक-रहस्य का पूरी तरह से जिक्र श्री बाबू जी ने अपनी दिव्य-पुस्तक 'Efficacy of Rajyog' (राजयोग का दिव्य-दर्शन) में किया है कि उदगम से उद्धृत अनन्त शक्ति सात रिंग्स (Seven Rings) में बँट गई और उद्गम से ईश्वरीय-केन्द्र के मध्य शून्यावस्था का ही पसारा रह गया। यहाँ एक भेद यह भी समझ में आता है कि इसे धारण कर सकने वाले के अभाव में इस महत्-शक्ति का मूल्य जीरो बनकर रह गया। यही कारण है कि आध्यात्मिक-क्षेत्र में जब तक हमें निगेशन (Negation) अर्थात् 'कुछ नहीं' की परम-स्थिति प्राप्त नहीं हो जाती है, अर्थात् मानव की हस्ती मात्र आइडेन्टिटी (Identity) अर्थात् जीरो नहीं रह जाती है, तब तक सेन्ट्रल-रीजन (Central Region) में प्रवेश पाना असम्भव है। इन सात रिंग्स को परम-शक्ति में हमें प्रवेश तभी मिल पाता है, जब हमारी दैविक - शून्यावस्था खुद की

आइडेन्टिटी (dentity) को भी आइडेन्टिफाई नहीं कर पाये अर्थात् पहचान न पाये अर्थात् अपने दैविक - करैक्टर (विशिष्ट अवस्था) को भी भूल जायें। 'मालिक' श्री बाबू जी समर्थ हैं, इसी कारण किसी भी अभ्यासी को इस मुख्य-केन्द्र (सेन्ट्रल-रीजन] में प्रवेश देने का अधिकार लिये हुए हैं। इसीलिए यहाँ लेखिनी विवश हो गई यह लिखने को कि 'वे' आदि-शक्ति के ही प्रतिरूप हैं। एक आश्चर्य यह भी है कि भूमा के साम्राज्य अर्थात् सेन्ट्रल-रीजन में तो हम अपने अस्तित्व के भाव को भी विस्मृत किये हुए मात्र आइडेन्टिटी की परम-गति को प्राप्त करके पैराव अर्थात् स्विमिंग की स्थिति में रहते हैं, किन्तु जीरो अर्थात् निगेशन के भी निगेशन में पहुँच पाने के लिये उस भाव को भी लय करके अभ्यासी को वैसा ही होना पड़ेगा।

सम्भवत: सात रिंग्स में पैराव या स्वीमिंग की स्थिति नहीं होती है, क्योंकि शक्ति के केन्द्र अर्थात् उद्गम के अत्यन्त निकट होने के कारण यहाँ शक्ति में न तो बहाव है और न ही स्पन्दन की ही गम्य है। ऐसा लगता है कि यहाँ स्पन्दन कभी हुआ ही नहीं था। ऐसा आश्चर्य लग रहा है कि यदि मैं यहाँ अपने श्री बाबूजी महाराज को ही मान लूँ तो भी ऐसा नहीं कर सकती हूँ, क्योंकि ऐसा मानते ही होश उड़ जाते हैं। जानते हैं क्यों ? क्योंकि यहाँ 'मैं कौन हूँ' ? 'मैं कहाँ हूँ' ? इस बात का स्मरण, (जो हमारे नाम से जुड़ा हुआ है) इस की याद के आभास का स्पन्दन तक यहाँ नहीं पहुँच पाता है। यहाँ ऐसा लगता है कि दिव्य-शक्ति का बहाव और दबाव सात रिंग्स के बाद ही आरम्भ हुआ है। श्री बाबूजी ने मुझे लिखा था कि 'मुझे खुशी है कि तुम्हारा गुजर तीसरे रिंग में हो रहा है। यह हमारे लालाजी साहब का ही दैविक-चमत्कार है जो तुम्हारे लिए यह खुश खबरी लाये हैं।'' मुझे भली प्रकार से स्मरण है कि जब मैंने उन्हें यह दशा लिखी थी कि 'मुझे

लगता है कि मुझे यहाँ टिकाये रखने के लिये मात्र आपका दैविक-संकल्प ही आधार है। तब भी मुझे यहाँ की दशा का स्मरण नहीं रहता था, बल्कि एक दिव्य नज्जारा है जिसे निहार पाने के लिये दिव्य-दृष्टि भी आपने ही प्रदान की थी। आपके दैविक-संकल्प की स्थिरता ही हमें रिंग्स की हालत में ही नहीं वरन् यहाँ के दैविक-कैरेक्टर (विशिष्टता) में प्रवेश देकर स्थिर रखते हुए मानों उसका निमन्त्रण स्वीकार करने को बाध्य करती है।'' कैसे दैविक, अनूठे एवं अनुपम प्यार का आचरण भी तो यहाँ है कि आदि-शक्ति के निमन्त्रण पर ही धरती पर उतरी हुई दिव्य-विभूति (श्री बाबूजी) भी हमें उनके घर अर्थात् मुख्य-केन्द्र के दायरे में प्रवेश देती हैं एवं उस देश में स्थिर रखने की क्षमता भी वे ही हमें उस क्षण ही प्रदान करते हैं। एक बार उन्होंने मुझे पत्र में लिखा था कि "जानती हो अन्तिम हालत क्या है ? जैसे संग (पत्थर) बेनमक; इसलिये यदि यह हालत किसी को पहले ही दे दी जाये तो वह सहज-मार्ग छोड़कर भाग जायेगा।'' आगे आपने और भी लिखा कि "ठीक भी है, भला बिना नमक का खाना किसे अच्छा लगेगा। यहाँ की बेस्वाद अर्थात् बेनमक हालत भला किसे यहाँ स्थिर रख सकेगी। इसीलिये तुमने देखा होगा कि आनन्दमय दशा में कभी बेआनन्द की दशा का पुट देकर ही मैं अभ्यासी को यहाँ लाकर स्थिर खड़ा कर पाने की तैयारी करता हूँ।'' अतः पूरी पुस्तक का महत्व एक ओर है और दूसरी ओर, इस पुस्तक-लेखन की सामग्री देने वाले, अन्तर में आध्यात्मिक-श्रेष्ठ गतियों को उतारने वाले एवं मुझे लय-अवस्था की परिपक्व अवस्था प्रदान करने वाले श्री बाबूजी महाराज ही हैं। उन्होंने प्रथम तो दिव्य-देश के दर्शन की हालत प्रदान की; फिर आगे साक्षात्कार से अन्तिम सत्य की परम-दशा का सौभाग्य भी प्रदान इतना ही नहीं, दिव्य-देश की यात्रा का सौभाग्य प्रदान करके श्री बाबू जी ने पुनः लेखिनी द्वारा समक्ष में उतरे हुए हर दैविक नज़ारे एवं

श्रेष्ठ-दशा का स्पष्टीकरण करने की शक्ति भी देकर पुस्तक रूपी इस दैविक-प्रसाद को सौभाग्यशाली बना दिया है। मेरे श्री बाबूजी इस दैविक-प्रसाद का वरदान प्रदान करते हुए सदा समस्त को अपनी ममतामयी गोद में समेटे रहें, यही मेरी प्रार्थना है।

दिव्य-देश में वहाँ की ही श्वांस से जीवित एवं स्थिर रह पाने के लिये श्री बाबूजी महाराज ने मात्र लय-अवस्था की ही शर्त रखी है और भक्ति मे डूबे रहना ही लय-अवस्था प्राप्त कर पाने की कुंजी है। वास्तविक तथ्य तो यह है कि सात रिंग्स के भी अन्दर मैंने यह पाया है कि वहाँ का दृश्य कुछ भी नहीं है, अनुभूति कुछ भी नहीं है, बस, "जो है सो है" और जो कुछ वे हमें जताना चाहते हैं, वही नज्जारा समक्ष में है। ऐसा लगता है कि उस आदि-अनन्त शक्ति को भी इन सात रिंग्स में खुद की मौजूदगी का पता ही नहीं रहा, अर्थात् स्वयं का ज्ञान ज़ीरो ही रहा, इसलिये यहाँ शून्य का पसारा ही रह गया और शक्ति में फोर्स भी नहीं आ सका। कदाचित् यही कारण है कि यहाँ यही प्रतीति व्याप्त है कि मानों 'वह' स्वयं ही स्वयं को जता रहा हो, जिसे दृष्टि द्वारा नहीं, बल्कि शून्य होकर ही अपनाया जा सकता है, देखा नहीं जा सकता है। यहाँ एक प्रश्न यह भी उठ सकता है कि यदि शून्य में प्रवेश मिल गया तो फिर शून्य कहाँ रहा ? इसका ठोस उत्तर तो यही है कि शून्य में शून्य का कुछ मूल्य नहीं होता है, मात्र शून्य ही रहता है। हाँ, प्रश्न यह अवश्य महत्वपूर्ण है कि इसमें (शून्य में) प्रवेश कैसे मिल पाता है ? बस इसका उत्तर तो यह पुस्तक स्वयं ही है कि वह जो सबको प्यार करता है, अपना प्यार बाँटने के लिये, धरा को पावन बनाने के लिये एवं प्राणिमात्र में ईश्वर-प्राप्ति की चेतना को जागृत करने के लिए स्वयं प्रकाशित है, जिन्हें आदि-गुरु समर्थ सद्गुरु श्री लालाजी साहब अपनी अथक साधना के फलस्वरूप धरती

पर उतार लाये हैं, उनके दिव्य नक्शे-क़दम का आधार पाकर ही उनके दैविक-संकल्प में समाहित होकर धरती पर जीवित रहते हुए हम इस दिव्य शून्य-अवस्था में प्रवेश पा जाते हैं। 'मालिक' के नक्शे-क़दम इस बात का प्रतीक भी हैं कि कोई हमें लेने 'भूमा' की परम-शक्ति लेकर धरा पर उतरा है। वह अपनी दैविक-प्राणाहुति का सहारा देकर मन को सुधारते हुए मानव के ध्यान को सत् अर्थात् ईश्वर से योग देते हुए हमारे जीवन को धन्य बना रहे हैं। आज मैं यह रहस्य भी जान सकी हूँ कि गीत में मेरी लेखिनी ने जब यह लाइन लिखी कि :—

"दिव्यता भी हार जाती थी, जभी देखे तेरा मुख"

इसका भेद क्या है, तो लगा कि दिव्यता भी मात्र एक विशेषण है, जो इस प्रसंग में जोड़ा गया है। किन्तु है यह भी शून्य; सच है कि जब विशेषण अपने ही प्रिय का मुख निहारता है तो जिस मुख का वह दर्पण है वह मुख उस सौन्दर्य को हरा ही देता है, क्योंकि वह तो प्रिय से एकाकार ही है। शायद यही कारण है कि एक समय आता है, जबकि हमारा अस्तित्व हमें ही नकार देता है, अर्थात् अस्तित्व स्वयं को ही नहीं पहचान पाता है। यह हालत मैंने श्री बाबूजी महाराज को लिखी थी जिसे उन्होंने 'निगेशन फ्रॉम निगेशन' कहा है हम उसमें एकाकार हो जाते हैं। इस पुस्तक में मैंने इसे चित्र द्वारा अंकित करने का प्रयास भी किया है। अब प्रश्न यह उठता है कि इस अलौकिक-दशा अर्थात् 'निगेशन फ्रॉम निगेशन' की हालत में दशा का अन्दाज कैसे मिलता है ? इस विषय में मैं केवल इतना ही कह सकती हूँ कि मानों यह दशा स्वयं ही अपने होने का अन्दाज़ कभी-कभी हमें देती रहती है। वास्तव में यह अन्दाज़ ही हमें जताता है कि 'निगेशन फ्रॉम निगेशन' के चिलमन में कौन सी दशा छिपी हुई है। वहाँ की एलर्टनेस, अद्भुत चेतना ही इस परम दशा की चेतना की जान है, जो मेरी इस लेखिनी

द्वारा आज उस आदि-सत्य का उद्घाटन करने को भी तत्पर है। इसके लिये भी यही कहा जा सकता है कि इस सी अनुपम-चेतना भी वही है। यह ध्रुव-सत्य भी समस्त के लिये मेरे इस गीत की लाइन से स्पष्ट हो जाता है कि :—

"यह हक़ीक़त आपकी नज़रों से हम छूते रहे।"

कुछ देख पाने का तो प्रश्न ही नहीं है वहाँ। मेरे बाबूजी अपनी नज़र से हमें बख्शते हैं वही नज़र जो मेरी लेखिनी में समाकर कुछ लिख रही है। यद्यपि दूरी तो कहने को बस इतनी ही दिखाई देती है, जिसे मेरे एक गीत की अन्तिम पंक्ति में लिखते समय आज लेखिनी भी सुबक उठी है कि—" 'संध्या' सलवट ओढ़नी की देखते ही रह गये।" अर्थात् ओढ़ी हुई दैविक-ओढ़नी में हमारे और 'उनके' मध्य केवल सलवट भर का ही तो फासला है। इस पर भी यदि हम निगाह ऊपर उठायें तो उनका दर्शन प्रत्यक्ष हो सकता है, किन्तु पता नहीं, कौन सा एटीकेट या अदब पलकों को बोझिल बनाये हुए है। बस अब शून्य या ज़ीरो की समाप्ति कहूँ अथवा अब 'शून्य तो शून्य ही है' कह कर छोड़ दूँ। खैर, यह आपके ऊपर निर्भर करता है कि आप इनमें किसको स्वीकार करें।

भूमा

कैसे साहस कर सकी है आज यह लेखिनी उनके बारे में लिखने के लिये जो लेखन की सीमा से परे है, क्योंकि 'वह' विषय नहीं है, जिसके बारे में हम कुछ भी लिख सके। 'वह' वह भी नहीं है जिसका आभास हमें प्रसन्नता दे सकें। 'वह' तो वही है, जो है। यह लेखिनी मात्र उसका संकेत ही दे रही है, किन्तु ऐसा साहस भी आज यह कैसे जुटा सकी है ? इसका कारण यह है कि दैविक-कार्य की पूर्त्ति के लिये धरणितल को स्पर्श करती हुई महत् दिव्य-विभूति का वरदान कि 'प्राणि मात्र आदि-श्रोत तक पहुँच सके' ही हममें दिव्य-साक्षात्कार पाने की तड़प का प्रेरक-श्रोत है। इतना ही नहीं, उस परम दिव्य-अवस्था तक पहुँचा पाने में 'वह' उस आदि शक्ति के श्रोत की शक्ति पर स्वामित्व पाये हुये हमें अपनी पावन प्राणाहुति का आन्तरिक अवलम्बन भी प्रदान करते हैं। सहज-मार्ग द्वारा अनन्त-यात्रा को भी सुलभ एवं सहज बना रहे हैं। श्री बाबूजी द्वारा 'अनन्त-यात्रा' नामक पुस्तक का लेखन मात्र लेखन ही नहीं, वरन् उसमें लिखित हर दिव्य-स्थिति को मानवों में उतारने की क्षमता एवं सामर्थ्य रखते हुये वे अपनी सच्चाई को यह कह कर उजागर भी कर रहे हैं कि "मैं कोई भी दैविक-राज ले नहीं जाऊँगा, वरन् उसे अभी कोई लेने वाला तैयार न हुआ तो वातावरण में बिखेर जाऊँगा, जिससे आने वाले नव-युग के लोग इसे ग्रहण कर पाने में समर्थ हो सकें। कोई भी जो इस अन्तिम-दशा तक पहुँचेगा, वह वातावरण से इन दिव्य-रहस्यों को पढ़कर अपनी लेखिनी में भरकर समस्त के लिये स्पष्ट कर सकेगा।" उनका यही वरदान आज फलीभूत होकर सबके समक्ष उजागर हो रहा है, 'उनकी' ही कृपा का आधार

पा कर। उनका यही वरदान मेरी इस पुस्तक की जान है, जो आज समस्त में आध्यात्मिक-ज्ञान फूंकने वाले से जीवन पा रही है और सदैव ही पाती रहेगी।

इस सत्य को आज ओझल नहीं किया जा सकता है, चाहे वह आध्यात्मिक-पुस्तकों का लेखन हो अथवा आध्यात्मिक श्रेष्ठ-अवस्थाओं की प्राप्ति के विषय का संकेत हो सबकी लेखिनी यह कह कर ही सुस्ताने लगी कि वह अर्थात् भूमा 'जो है सो है'। ईश्वरीय-विराट्-शक्ति भी उससे इस प्रकार से चिपकी हुई है, मानों 'उसका' ही पर्यायवाची हो अथवा यों कहें कि उसका पूरक अर्थ भी वही है। साक्षात्कार की दिव्य-दशा हमें अपने होने की प्रतीति भी देती है और इससे परे आदि-शक्ति के आदि-श्रोत की ओर 'सहज-मार्ग' द्वारा साधकों को संकेत भी देती है। ईश्वरीय-शक्ति आदि-श्रोत भूमा से ऐसी जुड़ी हुई है कि आध्यात्मिक-अवस्थाओं की प्राप्ति के श्रेष्ठ शिखर पर पहुँचने पर हमें ऐसी अनुभूति होती है कि उस आदि-श्रोत का परिचयात्मक-तथ्य ईश्वर ही है। साधना-पक्ष में सदैव से ऐसा ही होता आया है कि वह अन्तिम-सत्य है, इसलिये मानव की पहुँच के बाहर मानो नकारात्मक है अर्थात् 'नहीं है' के समान होकर रह जाता है। किन्तु आज उसका ही साया अर्थात् अवतरित दिव्य-विभूति के साये का वरदान प्राणिमात्र को मिला हुआ है। इसीलिए आध्यात्मिक-क्षेत्र में अभ्यासी की भक्ति का प्रयास, ईश्वर का साक्षात्कार पाने के लिये सीमित सा होकर ही रह जाता है क्योंकि साक्षात्कार से आगे केन्द्र या भूमा के देश में ले जाने का हौसला व शक्ति तो वही प्रदान कर सकता है जो वह शक्ति लेकर ही पृथ्वी पर अवतरित हुआ हो। प्रमाण स्वरूप आप विचार करके देखें तो 'उनके' द्वारा प्राणाहुति का सहारा पाकर ईश्वर जो सर्व व्यापी, सर्व शक्तिमान और समस्त के अन्तर में

विद्यमान है, हमें अपना अज़ीज़ और प्यारा लगने लगता है। यद्यपि साधना से पहले मैं यही लगता है कि वह हमारी पहुँच से परे है, फिर क्रमशः वह हृदय में विद्यमान लगने लगता है। फिर दिव्य-शक्ति द्वारा स्फूर्ति और सम्बल पाकर स्वयं ईश्वर हमें अपने होने का एहसास देता है। कदाचित् इसी कारण यह लेखिनी स्वतन्त्र होकर समस्त को पुकार सकी कि उसके साये में आओ, जो सबको प्यार करता है। सहज-मार्ग साधना द्वारा ध्यान में डूबे हुए होने पर जब अन्तर्मन आनन्दित रहने लगता है तो हमें सदैव ऐसा लगता है कि मानों वह अन्तर में हमसे लाड़ लड़ा रहा है (प्यार कर रहा है)। इस प्रकार उन्नति करते-करते हमें ईश्वर का आविर्भाव हृदय में ही नहीं, वरन् उसका साक्षात्कार भी मिलने लगता है। भूमा का पटल झाँक कर मानों अब हमसे कुछ कहना चाहता है. ऐसी पहचान सी हमें 'उनसे' प्रतीत होने लगती है।

★

"ब्रह्मरन्ध्र का स्थान ऐसा है कि जब ईश्वर को कोई बात बतलानी होती है, तो इसी स्थान से आती है। गोया यह Receiver है और जब बन्दे को कोई खबर भेजनी पड़ती है, तो वह सहस्त्र-दल कमल के बीच की पंखुड़ी से भेजता है। गोया एक चीज़ ईश्वर के काम के लिये है और एक चीज बन्दे के काम के लिये। गोया सहस्त्र-दल कमल Transmitter है।"

—बहिन कस्तूरी को लिखे गये श्री बाबूजी के पत्र से उद्धृत।

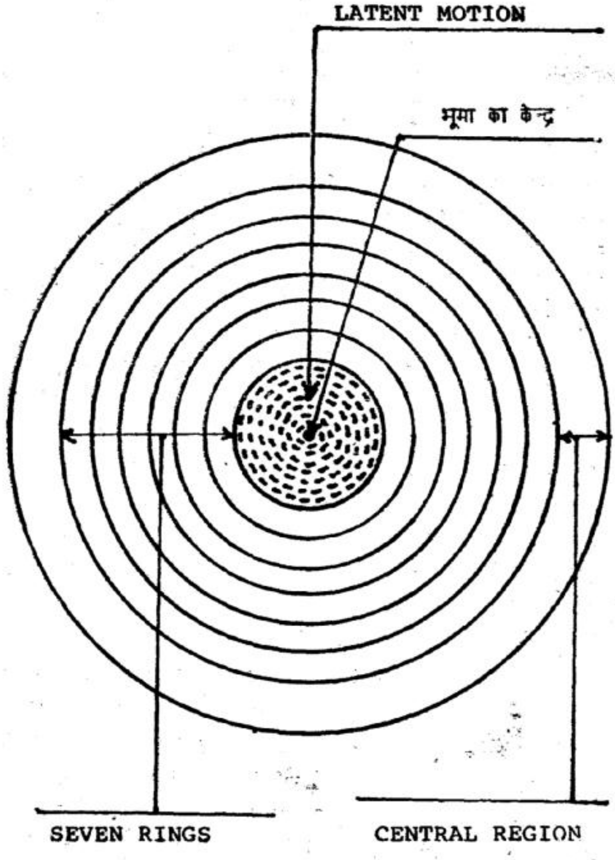
LATENT MOTION
भूमा का केन्द्र
SEVEN RINGS
CENTRAL REGION

लेटेन्ट-मोशन

एक बार मैंने जब श्री बाबूजी महाराज को अपनी हालत लिख कर पत्र भेजा था तो उन्होंने लिखा था कि "यह सर्वश्रेष्ठ गति या हालत तुम्हें मुबारक हो, जो लालाजी साहब ने तुम्हें बख्शी है।" तब मैंने बाबूजी महाराज से पूछा था कि "मेरी हालत को तो आपने निगेशन की हालत बताया है, किन्तु मुझे तो निगेशन का अर्थ भी नहीं मालूम।" तब के प्रश्न का उत्तर मेरे मालिक ने मेरे समक्ष आज तारीख २४-८-६३ को फैला दिया है और लेखिनी को स्वयं ही सँभाल लिया है। फिर अब देर क्यों हो? उस समय तो मुझे केवल पत्र में इतना सा ही उत्तर दिया था कि "निगेशन को 'असलियत की तिल-मिलाहट' कह लो।" किन्तु इस पुस्तक का नाम सार्थक बनाने हेतु और समस्त के लिये अपने प्यार की गहनता का रहस्य खोल देने के लिये ही आज श्री बाबूजी महाराज ने अपनी पुस्तक Efficacy of Rajyoga (राजयोग का दिव्य-दर्शन) में लिखित गहनतम एवं अन्तिम पॉइंट 'लेटेन्ट-मोशन' के अर्थ का स्पष्टीकरण लेखिनी द्वारा उतार पाने की क्षमता प्रदान कर दी है।

तारीख ५-७-६३ से ही स्वतः यह प्रश्न रह-रहकर कहीं तिलमिला उठा था कि आखिर Latent-motion (लेटेन्ट-मोशन) जो केन्द्र के चारों ओर है, वहाँ Dots डॉट्स (……) क्यों है? बस तब से ही सदैव लेखिनी और कागज साथ रखे रही कि प्रश्न दिया है तो उत्तर देने के लिये ही दिया है। सदा ऐसा ही होता आया है कि पहले प्रश्न सम्मुख आया है, तत्पश्चात् उत्तर। निगेशन का अर्थ श्री बाबूजी ने

'असलियत की तिलमिलाहट' कहा है। तो डॉट्स (......) के भीतर तो छिपी है 'असलियत' और डॉट्स हैं 'निग्रेशन'। अब प्रश्न उठ सकता है कि डॉट्स के आस-पास 'स्पेस' छूटने का अर्थ क्या है? (चित्र को ध्यान से देखिये) तो उत्तर यही सामने आता है कि उद्धृत सम्पूर्ण शक्ति के ऊपर यदि 'निगेशन' की चादर ही ढँकी होती और 'स्पेस' न होती तो श्वाँस लेने की जगह न मिलने से 'शक्ति' भी जाम हो जाती और 'निगेशन' में बदल जाती और फिर इसका कोई प्रयोग न रहता। इससे एक नई बात यह भी खुलासा हो गई है कि 'स्पेस' के जन्म का कारण यही रहा होगा। आगे इससे ही लगी एक असलियत और भी स्पष्ट हो जाती है कि 'स्पेस' के कारण ही 'समय' की उत्पत्ति हुई, क्योंकि 'स्पेस' को भरना ही समय की गतिशीलता का पता देता है। कितना आश्चर्य हो रहा है आज मुझे कि इससे ही लगा एक और भेद है, जो स्वयं को स्पष्ट कर देना चाह रहा है। आप अवश्य सोचेंगे कि आखिर यह कौन सा भेद हो सकता है? तो लीजिये, वह स्वतः ही बोल रहा है कि वह है नेचुरल-विचार जो क्षोभ से तिलमिला कर केन्द्र (भूमा) से बाहर आया। किन्तु उस समय वह स्वयं गतिशील नहीं था बल्कि समय की गतिशीलता के घेरे में बन्द था और समय तो समय आने पर ही अपना पसारा ले सका। 'स्पेस' क्यों है? इसके उत्तर में जो आखिर फिर असलियत से तिलमिला कर विचार (Thoughts) के रूप में अपने केन्द्र से बाहर निकल आई। मैंने श्री बाबूजी को पत्र में अपनी हालत को लिखा था कि "अपनी हालत के बारे में मैं अब क्या लिखूं। चारों ओर मानों असलियत का ही पसारा फैला हुआ है। देखो तो असलियत, छूओ तो असलियत मानो असलियत मेरा रूप ही बन गई है।"

आज इस सत्य को भी लिखने में मेरी लेखिनी नहीं चूकेगी कि

उपर्युक्त रहस्य तो दिव्य और अन्तिम-सत्य के मण्डल (घर का) का रहा। पुनः जब विचार ने स्वयं ही जन्म लेकर अपना विस्तार आरम्भ कर दिया, तो यही विचार मानव के हिस्से में आया, जिसमें संकुचितपन भी स्वाभाविक न रह पाने के कारण मिला हुआ था, क्योंकि 'विचार' ने अपना विस्तार स्वयं किया था। हमारे श्री बाबूजी ने सहज-मार्ग साधना में इस विचार को ही रखने को कि 'ईश्वर हमारे हृदय में मौजूद है' कहा है। पुनः आदि-विचार (ईश्वर समस्त में है) का रंग देने के लिए ही प्राणाहुति - शक्ति का सहारा भी हमें प्रदान किया है, जिससे निज विचार में फँसा हुआ मानव पुनः इस बन्धन से छूट सके।

★

"वेदों का Further Development अभी तक नहीं हुआ, इसलिये कि ऋषियों ने Non-Duality पर चीज खत्म कर दी। वहाँ तक आखिरी दौड़ कही जाती है। क्या यह नहीं हो सकता कि इसके आगे कुछ और भी हो ?। वेद में पुकार-पुकार कर कहा है—"नेति, नेति"—गोया यह इशारा है कि इससे आगे कुछ और भी है।"

× × ×

"किताबी खुदा तो सब लोग देखते हैं और ज़िन्दा खुदा कोई ज़िरबिल्ला और ऐसा शायद ही कोई हो कि उसको देखने की कोशिश करे, जो वाकई है या समझने के लिए इन दोनों खुदा की जान है और इस खुदा को वही देख सकता है, जिसने अपने आपको बिल्कुल रुख़सत कर दिया हो। फिर उससे जितना कोई चिमट सके, उतना ही क़ामयाब है।"

—बहिन कस्तूरी को लिखे गये श्री बाबूजी के पत्र से उद्धृत।

काल-शक्ति और दयाल-शक्ति

जब लेखिनी उठी है तो यह दैविक रहस्य भी क्यों न स्पष्ट कर दूँ कि श्री बाबूजी द्वारा कथित 'काल शक्ति' और 'दयाल शक्ति' का कार्य क्या है ? इन शक्तियों को मैंने निम्न-चित्र द्वारा स्पष्ट करने का प्रयास किया है ।

दिव्य-विभूति काल-शक्ति से कार्य तब लेती है, जब 'विनाश' का कार्य करती है, किन्तु विनाश के साधारण कार्य में उनकी इच्छा में इसका योग मात्र सम्पुट के समान ही होता है। इसका पूर्ण प्रयोग 'प्रलय' के समय ही होता है ।

दयाल-शक्ति की धारा तो सतत् रूप से प्रवाहित ही रहती है, जिसमें प्राणिमात्र के लिये क्षमा व प्यार सम्मिलित होता है। साथ ही इस शक्ति में अनदेखापन भी होता है, किन्तु इसके प्रयोग का एक विशेष काल तब आता है जब प्राणियों के उद्धार के लिये कोई बिशेष महत्-विभूति धरा पर उतर आती है। यह दिव्य-विभूति दयाल-शक्ति में विभोर होकर ही हम प्राणियों में अपने महत्-प्राण का योग अपनी दैविक-प्राणाहुति का सम्पर्क देकर ही करती है ।

卐

मानव शरीर की रीढ

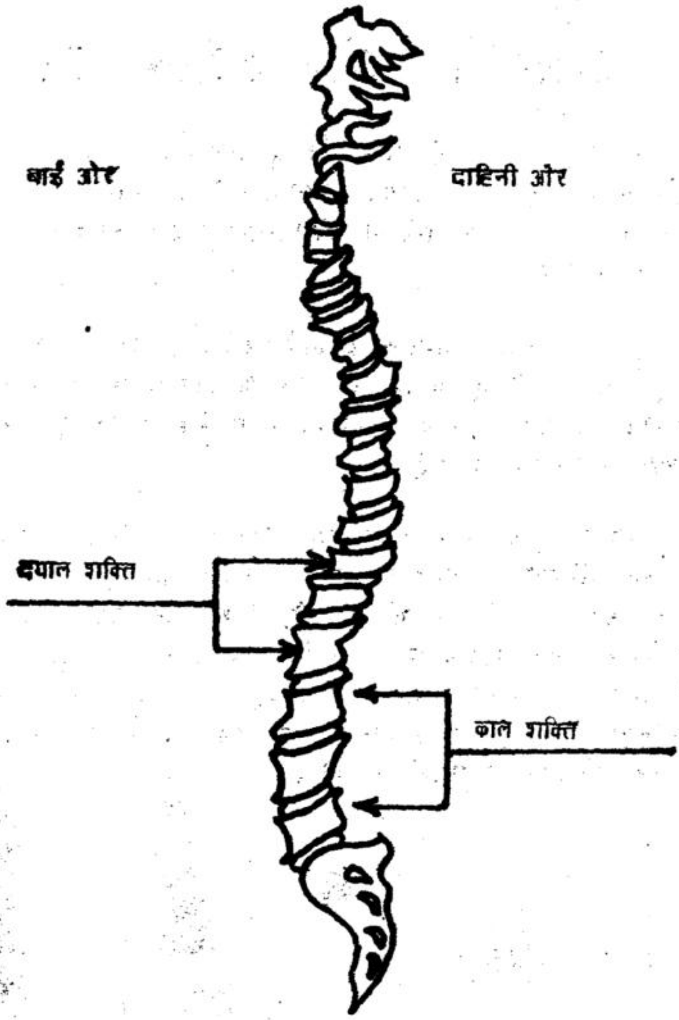

आध्यात्मिक-क्षेत्र की विविध-अवस्थाओं का संगम

(क) सहस्त्रदल-कमल अथवा सहस्त्रार

प्रकृति की मुख्य शक्ति-धारा का रुख ऊपर से नीचे की ओर है और सृष्टि के रख-रखाव के लिये गतिशील है। फोर्स या दबाव के कारण वह शक्ति की धारा अनगिनत धाराओं में बंट गई। सहज-मार्ग के अन्तर्गत राजयोग द्वारा क्रमशः जब अभ्यासी आध्यात्मिक उन्नति करते हुये सहस्त्रदल-कमल के स्थान पर पहुंच जाता है, तब ऐसी अनुभूति होती है कि इस स्थान में प्रकृति की शक्ति की मुख्य धारा (जो अगणित धाराओं में बंट गई है) की महत्-शक्ति को आत्मसात् करने की क्षमता मौजूद है। तभी इस स्थान में प्रवेश पाने पर हर समय हमें ऐसी अनुभूति होती है कि मानों सिर के मध्य का सम्बन्ध कहीं ऊपर से है, जिसके द्वारा सारी शक्ति हममें स्वतः ही समाहित होती जा रही है और हमारा ध्यान बराबर ही कहीं ऊपर के वातावरण में पड़ा रहता है। इसको 'सहस्त्र-धार' के नाम से भी कह सकते हैं, क्योंकि प्रकृति की मुख्य-शक्ति-धारा का प्रवाह सहस्त्र-धाराओं में बंट कर ही समाहित कर पाने की शक्ति इसमें होती है। एक आवश्यक बात तो हमारे समक्ष यह भी है कि लय-अवस्था की प्राप्ति बिना किसी भी दैविक-शक्ति को समाहित कर पाने की क्षमता हममें उत्पन्न नहीं हो सकती है। हाँ, श्री बाबूजी की कृपा एवं दिव्य-शक्ति द्वारा अभ्यासी को प्रत्येक-स्थान की दशा अवश्य प्राप्त होती है। आज मेरी लेखिनी जो हर तथ्य को समक्ष में चित्रित हुआ सा देखकर ही लिखती जा रही

है, उसे भी ऐसा सौभाग्य कभी भी सम्भव नहीं हो पाता। जानते हैं क्यों ? समक्ष में चित्रित तथ्य को जो दैविक-दृष्टि मेरी लेखिनी द्वारा उतारती जा रही है, वह ममतामयी दृष्टि मेरे बाबूजी महाराज की ही है। इतना ही नहीं, गृहस्थ-जीवन में स्वजनों को प्रत्येक कार्य में सहयोग देते हुये आज जो मेरे ध्यान को लेखन के समय किंचित मात्र भी विचलित नहीं होने देते हैं और यदि किसी काम के लिये बीच में उठना भी पड़ जाता है तो तुरन्त ही लेखन से ध्यान का पुनः योग कर देते हैं, वह मेरे श्री बाबूजी ही हैं। वे ही ऐसी क्षमता प्रदान करते हैं, मानों उन्होंने लिखाने की ठान ही ली है। क्यों ? समस्त को अपने इस दिव्य-प्रसाद से भर देने के लिये। एक रहस्य आज मेरे समक्ष और स्पष्ट हो गया है। बचपन में पढ़ा था कि भगीरथ की अटूट तपस्या से श्री ब्रह्मा जी प्रसन्न हुए और उन्होंने गंगा को धरती पर उतार देने की भगीरथ की इच्छा को पूर्ण कर देने का वरदान दे दिया। प्रश्न यह था कि गंगा यदि पृथ्वी पर सीधे आती है तो उसकी तीव्र-धार से तमाम विनाश हो जायेगा, अतः उसे धारण कौन करेगा ? शिवजी ने इस कार्य को सम्पन्न करने का आश्वासन दिया। वे अपनी जटायें बिखेरे हुए, शीश पर गंगा को धारण करने के लिये ऊपर की ओर देखते हुये खड़े हैं। उनकी इस मुद्रा का अर्थ आज मेरे समक्ष उज्ज्वल हो उठा है। प्रकृति की शक्ति से प्रवाहित मुख्य-धारा से निकली हुई अगणित - धाराओं को समाहित कर पाने की क्षमता सहस्त्रार अर्थात् सहस्त्र-धार के मुख्य केन्द्र-विन्दु में मौजूद है और शिव को इस शक्ति पर पूर्ण स्वामित्व प्राप्त है। यही कारण है कि जब-जब शक्ति के आवाहन की आवश्यकता पड़ी, तब-तब शिव को ही याद किया गया है। आज मेरे समक्ष 'मालिक' ने इस श्रेष्ठ दशा को भी स्पष्ट कर दिया है कि हमारे मिशन के एम्बलम के मध्य में अंकित सहज-मार्ग के मध्य प्रवाहित मुख्य-धारा और इधर-उधर अंकित पहाड़ व नदियाँ एवं बाधा स्वरूप जो भी बातें हैं, वे केवल इस बात

का प्रतीक हैं कि प्रकृति की परम - शक्ति पर आधिपत्य पाये हुये जो दिव्य-विभूति आज धरा को पावन बना रही है, ध्यान में उनमें ही लय रहते हुये, उनकी कृपा से जब सहस्त्रार की शक्ति पर विजय पा लेते हैं, तभी हमें उस आदि-ध्यान की सहज धारा में प्रवेश मिल पाता है, जिसका योग अनन्त-शक्ति से है। तब से ही मैंने देखा है कि आगे का पथ सदैव बाधा रहित एवं दिव्य- सूक्ष्म शक्ति से सम्पन्न मिलता है, जो हमें श्री बाबूजी द्वारा लिखित 'सत्य' (Truth) की दशा में प्रवेश देने वाला होता है।

(ख) ब्रह्म–रन्ध्र

बहुधा पुस्तकों में पढ़कर ही लोग आध्यात्मिक-गतियों का हवाला दे देते हैं। स्वयं वे कहाँ तक इनमें पैर पाये हैं और कहाँ तक उन्होंने विभिन्न दशाओं की अन्तर्स्थिति को भोगा है और क्या पाया है—ऐसा चित्रण समक्ष में देखकर पढ़ने का सौभाग्य कदाचित् ही किसी ने पाया होगा। आज श्री बाबूजी महाराज की कृपा से मैं यह लिखने जा रही हूँ कि बहुचर्चित ब्रह्म-रन्ध्र की दशा का कार्य कब शुरु होता है और इस स्थान की महत्-दशा को श्री बाबूजी कैसे पार करवाते हैं ? कितना दुस्तर होता है यह कार्य। यही कारण है कि अब तक कोई आध्यात्मिकता की ट्रेनिंग का तरीका 'सहज-मार्ग' की तरह से नहीं आया है, जिसमें मन-बुद्धि-चित्त को दिव्य-शक्ति का प्रवाह देकर शुद्ध करते हुए हृदय व मन को विशुद्ध अवस्था में निखार लाते हैं। कितने प्यार व अपनी सँभाल से आध्यात्मिक-क्षेत्र में सूक्ष्म से सूक्ष्म दशा की यात्रा कराते ले चलते हैं। ब्रह्म-रन्ध्र की दैविक-अवस्था, आध्यात्मिक इतिहास में अपना अलग ही स्थान रखती है, जिसका पूर्ण विवरण एवं अनुभूति का योग दे पाने के लिये इतिहास भी मौन है, पर आज यह लेखिनी इस मौन को तोड़ने के लिए उठ गई है।

मुझे वह दिन स्मरण आ रहा है कि मैं श्री बाबूजी के साथ दक्षिण-भारत की यात्रा पर गई हुई थी। हम लोग हैदराबाद में थे। एक दिन मैंने देखा कि डेढ़ दिन से पूज्य श्री बाबजी महाराज कुछ परेशान हैं। लगता है कि कोई विशेष समस्या उनके समक्ष है, जिसे सुलझाने में वे व्यस्त से हैं। एक रात्रि लगभग दो बजे वे परम पूज्य मेरे कमरे में आये, जहाँ मैं अभ्यासी बहिनों के साथ ठहरी हुई थी। उनके आते ही हम सभी जाग गये। मैंने पूछा "बाबूजी ! क्या बात है ?" बोले—"तुम बिल्कुल ठीक हो ?" मैंने कहा कि "हाँ, मैं बिल्कुल ठीक हूँ। आप सोये नही अब तक ?" तो बोले "बस, अब मैं सो जाऊँगा।" मैं कुछ समझ ही नहीं पाई थी कि वे क्यों जाग रहे थे। हाँ, मैंने इतना उनसे अवश्य कहा था कि "मुझे ऐसा लग रहा है कि जहाँ चोटी रखते हैं, उस स्थान पर मुझे काफी स्पन्दन अनुभव हो रहा था, जो अब नहीं है, क्योंकि लगता है कि कोई पॉइंट खुल गया है।" बस मैं सो गई। प्रातः जब मैं जागी और श्री बाबूजी के पास आई तब मैंने देखा कि श्री बाबूजी, भाई श्री वरदाचारी जी से कुछ गूढ़ बातें कर रहें हैं। उस समय कोई बात नहीं हुई, लेकिन मैं हैदराबाद से लौट कर घर आ गई। कुछ दिनों के बाद श्री बाबूजी का पत्र मुझे मिला, उससे मैं समझ सकी कि उन्हें जो उलझन हैदराबाद में हुई थी, उसका कारण क्या था। उन्होंने मुझे पत्र में लिखा था कि 'ब्रह्म-रन्ध्र' की हालत तक पहुँचा देना तो आसान है, परन्तु अभ्यासी को इस गति से उबार कर उस पार ले जाना दिव्य-सद्‌गुरु के असम्भव होता है। जानती हो क्यों ? क्योंकि जब घर का द्वार सामने हो तो भला उसे छोड़ कर कोई आगे जा सकता है। प्राणियों के अन्दर ब्रह्म-रन्ध्र आत्मा का प्रवेश द्वार भी है और निकास द्वार भी। अतः जब अभ्यासी की पहुँच इस दैविक स्थान तक हो जाये, तब आत्मा के निकास को रोक पाना असम्भव होता है, क्योंकि घर सामने होता है। आत्मिक-शक्ति जो प्राणियों का

प्राण है, यदि वही हमें छोड़ जाये, तो हम निर्जीव हो जाते हैं। इसलिये यह कार्य सद्गुरु के लिये कठिन समय का होता है कि वह अभ्यासी को ब्रह्म-रन्ध्र के दिव्य पॉइन्ट को पार भी करा दे और शरीर भी बना रहे।" आगे मुझे समझाने के लिए लिखा कि "मेरे पास मात्र एक ही उपाय था कि आत्मा को खुद में चिपका कर ब्रह्म-रन्ध्र के पार कर के दैविक-इच्छा-शक्ति द्वारा दूसरी ओर या उस पार स्थापित कर दूं। यद्यपि हो तो ऐसा भी सकता था कि ब्रह्म-रन्ध्र को उतने समय के लिए इच्छा-शक्ति के पर्दे से ढाँक कर तुम्हें निकाल कर पुनः उसे खोल देता लेकिन ऐसा करने में मेरे लालाजी साहब के नाम पर कुछ धब्बा मेरी बुज़दिली के कारण आ जाता; यह मुझे गवारा न हो पाता; इसलिये यह उपाय भी उन्होंने ही मेरे समक्ष रखा।" पश्चात् कुछ नाम भी लिखे, जिनके प्राण ब्रह्म-रन्ध्र द्वार ही निकले थे; जिसका एक मुख्य कारण यह भी था। उन्होंने एक नाम स्वामी योगानन्द जी और दूसरा नाम स्वामी विवेकानन्द जी का लिखा था। मैं तो पत्र पढ़ कर विमूढ़ सी हो गई। इस सन्दर्भ में अब यह भी पॉइन्ट लिखना जरूरी है कि आज मेरी समझ में यह तथ्य आ गया है कि गुरु और सद्गुरु में कितना अन्तर होता है। गुरु शिक्षा देता है, सिखाता है, किन्तु हम न सीख पायें तो उसकी जिम्मेदारी' नहीं है, किन्तु सद्गुरु दिव्य-रहनी की शिक्षा तो देते ही हैं, परन्तु उनकी कार्य-क्षमता अद्भुत है। वे अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा हमारे अन्दर ईश्वरीय-शक्ति का प्रवाह देकर हमें उस पार भी ले चलते हैं। अपने द्वारा प्रदान की हुई दिव्य आध्यात्मिक दशाओं की सुरक्षा भी रखते हैं और उन दशाओं के मध्य अभ्यासी के शरीर की रक्षा का ध्यान भी मानो उनकी ही जिम्मेदारी हो जाती है। आज मुझे यह भी पता लगा कि ब्रह्म-रन्ध्र का पूर्ण ज्ञान न होने के कारण यह पॉइन्ट मृत्यु का कारण भी बन सकता है यदि कोई सभाँल करने वाला साथ न हो तो।★

(ग) अव्यक्त-गति

आध्यात्मिक - क्षेत्र भी इतना आलौकिक, सूक्ष्म, विस्तृत एवं व्यापक है कि यहाँ प्रगति करते - करते भी हर पल सजग रहना चाहिये। हर हालत को ग्रहण करके चलने से अभ्यासी को हमातन अर्थात् तन्मय रहना आ जाता है; तभी हम सहज मार्ग की सहजता एवं कठिनता को भी पकड़ पाने में समर्थ होते हैं। जब आध्यात्मिक हालतों या दशाओं में प्रवेश पाते हैं और हर हालत में लय भी होते जाते हैं तब हमें सहज ही यह लगता है कि दशा एवं गति सुनने में समान शब्द ही हैं, परन्तु यदि इनकी मीमांसा विचार द्वारा करते हैं तो इतना अन्तर समझना कठिन हो जाता है। अब आपके समक्ष इन दो छोटे - छोटे शब्दों की हालत रख रही हूँ, दशा एवं गति की, फिर इस बात का न्याय आप ही करेंगे कि मेरे लेखन में कोई कमी तो नहीं रह गयी है? 'दशा' वह है जो हमारी प्रगति में हमारे समक्ष अनुभव के रूप में आती है और दूसरी है गति। अन्तर बहुत सूक्ष्म होते हुए भी व्यापक अवश्य है। जैसे "मैं अपनी हालत के अनुभव के बारे में क्या लिखूं कि ऐसी है, आदि" किन्तु गति होती है उस स्थान की, कि जिस स्थान पर अथवा देश में हमारे श्री बाबूजी हमें लाकर खड़ा कर देते हैं अर्थात् हमारी दशा और गति में यही अन्तर है। मैंने श्री बाबूजी को पत्रों में लिखा भी है कि "यहाँ की हालत के बारे में क्या लिखूं, सामने फैलाव ही फैलाव है, चटियल मैदान ही सामने व्याप्त है अर्थात् यह गति तो उस देश अथवा स्थान की है, मेरी नहीं" क्योंकि आत्मा का बन्धन टूट जाने के बाद मैंने श्री बाबूजी को यही लिखा कि "अब मैं अपनी हालत नहीं लिख सकती हूँ, हाँ, हालत की हालत आपको जरूर लिख रही हूँ।" जानते हैं, ऐसा क्यों लिखा? क्योंकि जब 'मैं' और 'मेरा' समाप्त हो जावे तब आप दशा को भी स्वयं से जोड़ नहीं सकते हैं। मेरे श्री बाबू

जी महाराज ने इसे कितने सुन्दर और समुचित रूप में स्पष्ट करते हुये मुझे लिखा कि "हालत और वजह साथ-साथ चलते हैं। जब हालत वजह में समा जाये, तब ही साँची और शाश्वत् हालत समझना चाहिये।" इसके पश्चात् जब वजह ही हमारे समक्ष में फैल जाये और हम प्रगति करते जायें तो जो भी हालत लिखेंगे, वह समक्ष में फैले क्षेत्र की गति होगी, दशा नहीं। अब 'अव्यक्त गति' को ही लीजिये, इस हालत को तो हम अनुभव नहीं कर पाते हैं, किन्तु ऐसा लगता है कि इसकी दैविक-अनुभूति में हम पगते (लय होते) जा रहे हैं। शब्दों पर ध्यान दें कि 'अनुभव नहीं कर रहे हैं, बल्कि दिव्य-रसानुभूति में अन्तर पगा जा रहा है। ऐसा दिव्य-रस है, जिसे अन्तर स्वतः ही पीता जा रहा है और मदहोश हुआ मन इस रस के बारे में कुछ बता नहीं पा रहा है। आगे इसकी और भी सूक्ष्म एवं सहज-स्थिति आती है, अर्थात् अविगत-गति। देखिये, गति अविगत है अथात् गति-विहीन गति है। इसे परमानन्द की चेतना में भी भोगा नहीं जा सकता, किन्तु पाया जाता है। समर्थ सद्गुरू श्री बाबूजी महाराज की कृपा से ही यह सम्भव हो पाता है। हालत जब अपने कारण या वजह में लय हो जाये, तब वजह के विषय में कोई क्या बता पायेगा। इसी सन्दर्भ में मैं अब 'सहज-गति' की भी कुछ झलक देने का प्रयास कर रही हूँ। कृपया आत्मसात् करने का प्रयास अवश्य करें, तो आप अधिकारी हो जायेंगे विशुद्ध ईश्वरीय - क्षेत्र के, ईश्वरीय-गति का विवरण समझ पाने के। ईश्वरीय-क्षेत्र में प्रवेश पाने का सौभाग्य एवं 'मालिक' का प्यार भी आप को वहाँ से ही बख्श दिया जायेगा। कितनी कृपा है 'उनकी' जिनके बारे में हमने सुना भर था कि 'बिन पग चलै, सुनै बिन काना"। इस कथन ने उस ईश्वरीय सहज-गति की विचित्र गहनता को भी हमारे समक्ष में स्पष्ट कर दिया है। प्रकृति का कुछ ऐसा क्रम मैंने पाया है कि हर दैविक दशा प्रथम तो खुद को हमारे समक्ष स्पष्ट करने के लिये

अपने फोर्स अथवा तेज के सहित हममें प्रवेश करती है ताकि अनुभूति उस तेज को ग्रहण करके उसे अपना सके। पुनः वहाँ की गति धीरे-धीरे अपने स्वाभाविक रूप से स्वतः ही हमारे अन्तर में उभरती आती है, अर्थात् अपनी ही सहज-गति में हमें प्रवेश देने के लिये उस डिवाइन का यह कैसा अलौकिक एवं श्रेष्ठ-क्रम होता है, जिसे कोई विरला ही जान सकता है अथवा यों कहें कि जिसे 'मालिक' स्वयं जता दें, वही कामयाब होता है। साधना या अभ्यास का सार यही निकलता है कि हमारी उन्नति का स्तर साक्षात्कार की निकटता को ही सहलाते जाना है, तथा अन्तस् में ईश्वरीय - आविर्भाव का प्रागट्य ही हमारे अभ्यास की या उन्नति की चरम सीमा होती है। इससे श्री बाबूजी महाराज का यह कथन इस दैविक अनुभूति के सहित हमारे समक्ष और भी स्पष्ट रूप से व्याप्त हो जाता है कि "हमारी हालत और इसका कारण अर्थात् साक्षात्कार की प्यास, प्राप्ति व हृदय में ईश्वर के प्रागट्य की तड़प साथ ही साथ चलती है।" अब यहाँ हृद-देश (हॉर्ट-रीजन) अथवा विराट् हृदय की यात्रा पूरी हो जाती है और अब वह स्वयं हमारे बारे में फिक्र रखे, इसलिये हमें माइन्ड-रीजन अर्थात् उनके बिग (विराट्) माइन्ड में प्रवेश मिल जाता है। अब सारा भार हमारी उन्नति का वह स्वयं ओढ़ लेते हैं और मजबूरी यह होती है कि हम तो 'जाऊँ कहाँ तजि चरण तुम्हारे' कह कर उनके बिग माइन्ड या माइन्ड-रीजन में स्वतः ही प्रवेश पा जाते हैं, तो वे भी या हम भी अब क्या कर सकते हैं।

卐

नूर और दिव्य-प्रकाश में अन्तर

आज तारीख ८-७-६३ को मुझे यह पता लगा कि नूर और डिवाइन-लाइट में अन्तर होता है और बहुत बड़ा अन्तर होता है। प्रकाश तो दिव्यता का प्रसाद एवं इसकी जूठन है और नूर उस दिव्य के मुख्य केन्द्र-बिन्दु का सौन्दर्य है। यों भी कह सकते हैं कि डिवाइन के सौन्दर्य को 'नूर' कहते हैं। हैलो और नूर में भी ज़मीन आसमान का अन्तर है। दिव्य-प्रकाश ईश्वरीय-केन्द्र के बाहर ही चारों ओर फैला रहता है। यों भी कहा जा सकता है कि ईश्वरीय-केन्द्र में इसकी गुज़र नहीं है। 'हैली' (प्रकाश-मण्डल) दिव्य-प्रकाश का होता है और प्रकाश का वहम यहीं तक हमारा साथ दे पाता है. किन्तु नूर मुख्य केन्द्र-बिन्दु से सटा हुआ होता है। इसमें फैलाव नहीं होता है। जैसे श्री बाबूजी के चेहरे पर नूर स्पष्ट देखा जा सकता था। उसे क्या कहूँ, कैसे कहूँ, कुछ समझ में नहीं आता है, किन्तु आज उनके (श्री बाबूजी के) प्रागट्य ने इस दिव्य रहस्य को भी स्पष्ट कर दिया है। जब मैंने दिव्य-प्रकाश का ध्यान रखने से पूजा प्रारम्भ की थी, तब मैंने पाया था कि हृदय में ईश्वरीय-प्रकाश फैला है, परन्तु अब याद करने पर सब याद आ रहा है कि क्रमशः दिव्य-प्रकाश में डूबे रहने के अभ्यास ने जग कुल प्रकाश को अपने कण-कण में पी (ऐब्जॉर्ब कर) लिया, तब से कुछ समय तक ऐसा लगता रहा कि दिव्य-प्रकाश मेरे कुल शरीर से निकल रहा है और मेरे चारों ओर फैला हुआ है। अब यह भी याद आ रहा है कि धीरे-धीरे जब वह भी समा गया (ऐब्जॉर्ब हो गया), तब से लगा कि स्वयं 'मालिक' में मेरी लय-अवस्था आरम्भ हो गई और तब से प्रकाश नहीं, बल्कि एक तेज चारों ओर फैल जाता था। जब मैंने पत्र में अपने

श्री बाबूजी को लिखा कि "आपके कार्य के लिये जब बाहर निकलती हूँ, तब आपका ही तेज मुझसे निकल कर चारों ओर फैल जाता है और कार्य की समाप्ति पर, घर वापिस आने पर ऐसा लगता है कि वह तेज मेरे अन्दर ही समा गया है, किन्तु इसका (तेज का) कोई 'हैलो' (प्रकाश-मण्डल) नहीं होता है।" आज शायद इसका ही उत्तर मैंने पाया है कि पावन-प्रकाश अन्तर की पवित्रता होती है, जिसका घेरा प्रकाश-मण्डल के रूप में होता है, जो हृद-देश (हॉर्ट-रीजन) को पार करते ही अन्तर में समा जाता है। किन्तु 'नूर' तो 'मालिक' में लय-अवस्था का वरदान मिल जाने पर और उनकी ही दिव्य-शक्ति का हमारे अन्दर प्रवेश पा लेने का सौभाग्य प्राप्त हो जाने पर ही मिल पाता है। इतना तो आज अवश्य मेरी समझ में आ गया है कि 'नूर' का देख पाना बिना 'उनकी' कृपा के सम्भव नहीं हो पाता है।

卐

"बुत परस्ती या मूर्त्ति-पूजन यह नहीं है कि पत्थर पूजा जावे, बल्कि किसी आदत का गुलाम हो जाना, यह भी बुत परस्ती है। दूसरे एक बात और है कि अगर हम अपने ही विचार की पूर्ति में रहते हैं और अगर उसके खिलाफ कोई बात पैदा होती है, तो धक्का लगता है। ऐसे लोगों को मन्मत कहते हैं। उसके लिये यह नहीं कहा जाता कि वह 'मालिक' की मौज में खुश है अर्थात् उसको गुरु-मत नहीं कह सकते।"

—बहिन कस्तूरी को लिखे गये श्री बाबूजी के पत्र से उद्धृत।

मन क्या है ?

तारीख ६-८-६३ को स्वतः ही एक प्रश्न बार-बार समक्ष में आकर मानों अपनी मौन भाषा में मुझसे कुछ पूछने लगा। जानते हैं वह अलबेला प्रश्न क्या था ? जो अपनी असलियत को खोलने के लिये मचल रहा था और मानों सामने से ओझल ही नहीं होना चाहता था आखिर तारीख ७-८-६३ को प्रातः सोकर उठने पर मानों यह प्रश्न स्वयं अपना समाधान ले कर समक्ष में हाजिर था। अन्त में लेखिनी को समाधान के सामने सिर झुकाना पड़ा। यह भी एक राज़ है जिसे लेखिनी ने ही मुझे समाधान के इस सन्देश द्वारा स्पष्ट किया कि वह कहाँ से आया है। तो सुनिये, "कोई राज, राज न रहे, कोई पर्दा, पर्दा न रहे" जानते हैं क्यों ? क्योंकि पर्दे के पीछे कुछ नहीं है।

'मन' के विषय में सदा ही यह कहा जाता रहा है कि यह ध्यान में नहीं लगता है। हमारा मन यह करने का नहीं है, वह करने का नहीं है, आदि। वह अपनी वास्तविकता को उघारता ही रहा, कुछ अपने विषय में बताना भी चाहता रहा लेकिन उसकी किसी ने नहीं सुनी। लगता है आज उसकी (मन की) मीत लेखिनी उसके विषय में सुन कर स्वयं में उतारने के लिये तैयार हो गई है। आज मैंने जाना कि 'मन' कुछ है ही नहीं, इसलिये उसकी अपनी कोई संज्ञा ही नहीं है। कदाचित् इसे मीत कहिये तो यह कुछ नहीं कहता और खोटा कहिये तो भी इस तक हमारी बात नहीं पहुँचती है और यह विचलित नहीं होता है। हाँ, यह विचलित कब होता है, जब हम विचार में ईश्वर का सतत् स्मरण रखने का प्रयास करते हैं, तब मानों यह अपने और अपनी वास्तविकता के मध्य टिके सारे विचारों को हटाने के लिये बेचैन हो उठता है। वास्तव में हमें आध्यात्मिक-क्षेत्र में जो बेचैनी का अनुभव

होता है, वास्तव में यह बेचैनी मन की ही है। अन्तर में साक्षात्कार पाने की बेचैनी मन की ही होती है और हम इसे अपने अनुभव की संज्ञा देकर लिखते हैं कि आजकल हमें बेचैनी बहुत महसूस होती है। आज मुझे मालूम हुआ कि 'मन उस आदि-इच्छा' का अंश है कि संसार बने। इच्छा का वही (मूवमेन्ट) स्पन्दन, मन बन कर उस समस्त शक्ति में, जो रचना के लिए क्रियान्वित होने को 'भूमा' से अलग हुई थी, बिखर गया और सृष्टि में प्राणिमात्र के अन्दर उस दैविक-आदि-इच्छा को 'मन' के नाम से पुकारा गया; इसलिये इसका न कोई रूप है, न रंग है और इसी कारण यह मानव परिकल्पना की पकड़ से भी परे है। सारी कर्त्ता-धर्ता मशीनरी मानव के पास मस्तिष्क के रूप में है, जो सतत् क्रियान्वित है। किन्तु कहावत यही है कि "मन के हारे हार है, मन के जीते जीत।" इच्छा में स्पन्दन (गति) होने से और फिर सृष्टि का क्रियान्वित स्पन्दन होने के कारण इसका वेग भी असीमित एवं अनन्त है। यही कारण है कि मन का वेग भी (असीमित का अंश होने से) असीमित एवं अनन्त ही होता है। कदाचित् इसीलिये मनका दूसरा नाम 'आदि-इच्छा' की तिलमिलाहट के रूप में ही समक्ष में आता है। यही कारण है कि श्रेष्ठ एवं अनुपम ईश्वरीय-गति में लय होने के बाद हम अपने में यह वाक्य जोड़ ही नहीं पाते हैं कि 'मेरा मन यह है, वह है, आदि, आदि।' इस स्थिति के प्राप्त हो जाने पर ही श्री बाबूजी महराज का यह कथन अपनी स्पष्टता प्रगट कर देता है कि "ईश्वर के मन नहीं होता है और ईश्वर के मस्तिष्क भी नहीं होता है।" यह तो तभी प्रकट हो जाता है, जब हमारी उन्नति का कदम हिरण्य गर्भ अर्थात् माइन्ड-रीजन में पहुँचता है। वास्तव में इसके पश्चात् मैंने श्री बाबूजी महाराज को अपनी स्थिति लिखते हुये बताया था कि "आज कल मेरी साँची स्थिति यह है कि जैसे मरुस्थल सहारा भी बे सहारा हो गया है।"

(च) जर्क

प्रथम तो जब कभी हम ध्यान में गहरे चले जाते हैं, लेकिन वहाँ ठहर नहीं पाते हैं, और पुनः बाहर आ जाते हैं, तब 'जर्क' महसूस होता है। हमें चाहिये कि जहाँ से हम ध्यान में वापिस लौटते हैं, उस दशा को बार-बार याद करके ध्यान को उसी गहराई में ले जाकर उस अनुभव को बार-बार छूने का प्रयत्न करें। पुनः उसी अनुभूति में अन्तर को डुबोये रखने की कोशिश करें तो एक दिन अवश्य ही हम उस आध्यात्मिक दशा को अन्तर में जिसे ध्यान छूता है, उतार लाते हैं। इसका सुन्दर फल हमें यह मिलता है कि ध्यान की इससे सूक्ष्म-गति के आने पर उसे ध्यान में रख कर उसकी रहनी में भी हम प्रवेश पा सकते हैं, जो फिर एक क्रम सा बन जाता है। ध्यान की एक स्टेज से दूसरी स्टेज के आनन्द में अन्तर को भिगो देने के लिये ध्यान की हर सूक्ष्म-गति को ग्रहण करते जाने से अब 'जर्क' की दूसरी स्टेज जिसे हम अन्तर में अनुभव कर पाते हैं, मिलना शुरू हो जाती है। उसकी अनुभूति कुछ इस प्रकार से होती है कि मानों बार-बार हमारा अन्तर सोते से जाग उठता है। तब कुछ ऐसा लगता है कि मानों कहीं दूर जा कर वापस लौट आया हो, तब से ही हमें फिर आन्तरिक 'जर्क' अनुभव होता है। यह भी कह सकते हैं कि अन्तर में ही इसका अनुभव प्रतीत होता है। यह 'जर्क' हमें इसलिये अनुभव होता है कि हमारा ध्यान गहन में रहने के कारण सूक्ष्म-शरीर के बन्धन को भी पिघला कर 'कारण' में प्रवेश पाने लगता है। वहाँ भी प्रथम अवस्था में उस स्तर की गहनता में यह स्थिर नहीं हो पाता है, क्योंकि सूक्ष्म-बन्धन पिघल तो चुका होता है, किन्तु पूर्णतयः टूटकर साफ नहीं हो पाता है। जैसे-जैसे हम ध्यान को उसी स्तर पर टिकाये रखने का अभ्यास करते हैं और वहाँ की दशा की अनुभूति में अन्तर को विलीन रखने का

प्रयास करते हैं, तो ध्यान को मानों ऐसा करने की स्वतः ही आदत बन जाती है। तब से फिर यह कार्य स्वतः ही पूर्ण होता रहता है और मानों ध्यान की श्रेष्ठ-अवस्था में टिकाये रख पाने की क्षमता भी स्वतः ही उत्पन्न हो जाती है।

अब आगमन होता 'जर्क' की तीसरी अवस्था में पग रखने का। इसका आगमन तब होता है, जब आत्मा की परमात्मा में विलीन होने की बारी हमारे बाबूजी महाराज हमें प्रदान कर देते हैं। मैंने यह अद्भुत बात सहज-मार्ग सिस्टम में पाई है कि यदि हमारा लक्ष्य श्रेष्ठ होता है और चाल भी इसके लिये अडिग एवं सीधी होती है, तो हमें पता लगने लगता है कि हमारे समक्ष अब कौन सी श्रेष्ठ-गति का पसारा है और तब से हम ध्यान कहाँ व कैसे रखें, यह सहज राह या गति स्वयं ही हमें प्रतीत होने लगती है। अब 'जर्क' की तीसरी अवस्था, जिनके विषय में लिखने जा रही हूँ, वह यह है कि ध्यान आत्मा के बन्धन से स्वतंत्र हुआ परमात्मा में ही लय हुआ रहने लगता है और ध्यान के इस स्तर पर 'जर्क' की अनुभूति एवं इसकी गति भी बदल जाती है। तब से फिर मानों सांसारिक-कार्यों के लिये हमें बार-बार कोई जागरण देकर पृथ्वी पर लाता रहता है। इस 'जर्क' में हमें अनोखी अनुभूति होने लगती है, जिसे मात्र व्यक्त कर पाने के लिये ही लिख रही हूँ। जैसे दाल में नमक डालना अथवा कोई जरूरी कार्य भूल जाऊँ तो लगता था कि यह 'जर्क' ही उस कार्य को सामने ला देता था। ऐसी अवस्था की प्राप्ति पर ही हमारा अन्तर मन गुनगुना उठता है कि "साधो सहज-समाधि भली।" यहाँ पर भी यह कहना आवश्यक हो गया है कि हमारे बाबू जी ने कहा कि सहज-मार्ग में समाधि का लगना नहीं होता वरन् समाधि से जागना होता है, जिसमें कि हम जन्म - जन्मान्तरों से सोये

हुए थे । यहाँ तो सहज-समाधि की ही गम्य होती है । वास्तव में मैंने तो यही जाना कि सद्गुरु श्री बाबू जी महाराज की कृपा के बिना कोई इन श्रेष्ठ-अनुभूतियों में हमें पाल नहीं सकता है किन्तु अब 'जर्क' की जो अन्तिम अवस्था मेरे समक्ष है, उसे व्यक्त कर पाना लेखक की क्षमता से परे हैं और यह अवस्था अपने में अद्वितीय इसलिये है कि इस अवस्था की प्राप्ति पर 'दुई' की अनुभूति भी लक्ष्य की प्राप्ति हो जाने के कारण सदैव के लिये लय हो जाती है । 'जर्क' को इस चौथी एवं अन्तिम अवस्था का पता हमें तब मिलता है, जबकि साक्षात्कार प्राप्त होने पर 'हम' नहीं होते हैं, फिर भी कहीं हैं, इसका पता हमें यही 'जर्क' देता है । वह भी इस प्रकार कि जैसे जब कभी पैर में तेज चोट लगे या शरीर में कहीं असहनीय पीड़ा हो, तब मानों एकाएक कोई हमें झकझोर कर चेतन कर देता है कि हमें तेज पीड़ा हो रही है । तब हम कराह उठते हैं कि पीड़ा बहुत जोर की है अर्थात् तब यह 'जर्क' हमें हमारे होने का पता देता है और बाह्य - गति की याद दिलाता है । असहनीय पीड़ा समाप्त होते ही हम फिर मानो जहाँ के तहाँ पहुँच जाते हैं । हम कहाँ पहुँच जाते हैं, इस स्थान का पता कदाचित् अब हमें इसलिये नहीं मिलता है कि मानव-लक्ष्य जो साक्षात्कार था, वह तो पूर्ण हो गया है, किन्तु अब हमारे श्री बाबू जी महाराज का संकल्प हमें कहाँ ले जायेगा, कैसे रखेगा, और इसका पता व व्यापक-अवस्था कैसे हमारे सम्मुख वे लायेंगे, यह वे ही जानें । हाँ, एक बात आवश्यक है कि सेन्ट्रलरीजन में प्रवेश पाने पर फिर 'जर्क' हमेंशा के लिये समाप्त हो जाता है, क्योंकि मानव-लक्ष्य पूर्ण हो जाता है और जीवन धन्य हो जाता है । साथ ही हमारे श्री बाबूजी महाराज का यह श्रेष्ठ-कथन है कि "कौन जाने यह जीवन ही, वह अन्तिम जीवन हो, जो हमें अमर बना दे ।"

卐

(ब) संस्कार

आज संस्कार के विषय में समस्त जन में जो भाव फैले हुए हैं, मैंने उन पर भी एक विहंगम सी दृष्टि डाल कर भ्रमों के निवारण करने का प्रयास किया है।

संस्कार क्यों और कैसे बनते हैं और आध्यात्मिक-क्षेत्र में प्रगति पाते हुए कब व कैसे इनका बनना बन्द हो जाता है, यह विषय हमारे लिये स्पष्ट ही होना चाहिये। आध्यात्मिक उन्नति में कैसी मनः स्थिति प्राप्त करने पर संस्कारों का बनना समाप्त हो जाता है, यह अनुभव ही बताता है। कब पूर्व संस्कारों का साफ होना प्रारम्भ होकर हम संस्कारों के बन्धन से पूर्णतयः मुक्ति पा जाते हैं, यह सब अद्भुत ही जान पड़ता है।

यह तो सभी जानते हैं कि भौतिक वस्तुओं का आकर्षण सीमाबद्ध होता है। उदाहरण स्वरूप एक पुष्प को ही ले लीजिये। आप कितना भी उसे सूंघे, उसकी सुगन्ध सीमित ही रहेगी। किसी भी वस्तु या खेल आदि जिन्हें भी हम मनोरंजन का साधन समझते हैं—सबका मनोरंजन एक सीमित दायरे में ही होता है, भले ही हम मस्तिष्क की उत्तेजना से उसे बढ़ावा देने का प्रयत्न करें। दुःख कितना भी गहन हो, हम कितना भी रोयें-चिल्लायें, किन्तु जी एक सीमा तक ही दुःख ग्रहण करता है। किन्तु कैसी भी उत्तेजना का कुपरिणाम हमारे अन्तर में ज्ञानेन्द्रियों में मलिनता उत्पन्न कर देता है। क्रमशः फिर उत्तेजना मस्तिष्क के सहज स्वभाव में अपना दुष्परिणाम छोड़ना प्रारम्भ कर देती है और फिर यह शीघ्र ही उत्तेजित हो उठने का स्वभाव ग्रहण कर

लेती है। अन्ततः हमारे सिस्टम में ठोसता फैलने लगती है। ज्ञानेन्द्रियों का कार्य जो ईश्वरीय-गतियों की पावन रसानुभूति के लिए होता है, क्रमशः सुस्त पड़ते-पड़ते लुप्तप्रायः हो जाता है और ज्ञानेन्द्रियाँ सुषुप्त अवस्था में आ जाती हैं और फिर हमारा सम्पूर्ण ध्यान भी भौतिकता में भटक जाता है। सहज-मार्ग साधना में हृदय में ईश्वरीय-प्रकाश का ध्यान रखने और उसमें ही डूबे रहने का प्रयास मानो सर्व-प्रथम हमारी ज्ञानेन्द्रियों को पुनः प्रकाशित कर देने का प्रयास है। पुनः श्री बाबूजी महाराज अपनी इच्छा शक्ति द्वारा अभ्यासियों के अन्तर में ईश्वरीय-शक्ति का पावन प्रवाह देकर ज्ञानेन्द्रियों पर पड़े आवरण को पिघला कर बाहर निकालना प्रारम्भ कर देते हैं। इसका सुन्दर परिणाम हम यही अनुभव कर पाते हैं कि हमें ध्यान में आनन्द आने लगता है और स्वतः ही बार-बार हमारे नेत्र बन्द होकर मानों अन्तर में फैले ईश्वरीय-प्रकाश में डूब जाने का प्रयास करने लगते हैं। जानते हैं क्यों ? क्योंकि अब ज्ञानेन्द्रियाँ स्वतः ही अपने कार्य में जुट जाती हैं और उनका रुख ईश्वरीय-गति के रसानन्द को चूसने में तत्पर हो जाता है। इसकी यह दैविक बख्शीश जो हमें मिलती है, वह स्वयं में अनूठी है। ऐसा इसलिये होता है कि ईश्वरीय-मन तो ईश्वरीय-गति से ही सम्बन्धित हो सकता है और हो जाता है। अब तक तो हम मस्तिष्क और विचारों से ही जुड़े रहते थे और मन के स्पर्श से अछूते ही रहते थे, किन्तु अब हमारी गति ईश्वर-प्राप्ति की ओर बढ़ने में अप्रतिम हो जाती है और बहुत शीघ्र हमें गीता में वर्णित श्रेष्ठ-गति कि "गुण गुण में ही बर्त्तते हैं" की प्राप्ति हो जाती है। इस गति के अनुभव पर हमारा मन मानों झूम उठता है, क्योंकि हमें ऐसा लगता है कि हमारे तन-मन और मस्तिष्क, का संचालक हममें ही छुपा हुआ सारे कार्य को अन्जाम दे रहा है। इस प्रकार जब हमारा अन्तर्मन ध्यान में डूबा रहता है, तो ईश्वरीय-शक्ति से सम्पन्न हुआ रहता है। इसका सुन्दर परिणाम हमारे चेहरे से झलकने

लगता है कि हमें खुद अपना मुख तेजोमय प्रतीत होता है। इस पवित्र आभा से हमारा वाह्य-व्यक्तित्व भी दमक उठता है। अन्तर की दृढ़ता श्री बाबूजी महाराज द्वारा प्राणाहुति शक्ति पाकर असीम हो उठती है, मानों ईश्वरीय-शक्ति की गरिमा हमारे अन्तर को अपने प्यार का चुम्बन देकर इसकी गरिमा को बढ़ा देती है। एक सत्य प्रत्यक्ष हो गया कि जहाँ तक अहं का साथ रहता है, वहीं तक सस्कारों का प्रतिबिम्ब रहता है और वहीं तक संस्कारों के भोग का प्रतिबिम्ब भी रहता है। जब ईश्वरीय-शक्ति का फैलाव हमारे अन्तर के कण-कण में व्याप्त हो जाता है तब दिव्यता का देश ही अपना हृद-मण्डल हो जाता है। अब हमारी अनुभूति हमें इस दृश्य की प्रत्यक्षता प्रदान करती है कि "शरीर धरती पर रहते हुए भी मानों हम ईश्वरीय-देश में रहते हैं।" यह हालत लिखने पर मेरे श्री बाबूजी ने मुझे लिखा था कि "लालाजी का शुक्रिया है कि उन्होंने तुम्हें 'सालोक्यता' की परम-दशा अता कर दी है।" इसी परमानन्द की रसानुभूति में डूब कर किसी कवि की लेखिनी यह लिखने को मचल उठी होगी कि "विन्दु में सिन्धु समाय गयो, तब बुन्दउ सिन्धु कहावत है।" इतना ही नहीं, जब यह गति अपनी सहज-अवस्था को प्राप्त हो जाती है अर्थात हम इसमें लय हो जाते हैं तब हम श्री बाबूजी को लिखते हैं कि "हम जिधर भी निकल जाते हैं, उधर ही सब एक अनबूझे तेज से मुग्ध हो जाते हैं।" शाश्वत-शान्ति चेरी (दासी) की तरह हमसे चिपकी रहती है। हम जिधर भी बैठ जाते हैं, चाहे विवाह की भीड़ हो, चाहे मेले का वातावरण हो, हमारे अपने मण्डल में एक प्रिय सन्नाटा फैल जाता है। जितना ही हम में से 'अहं' का बन्धन टूटता जाता है, उतना ही हमारी रहनी संस्कारों से परे रहते हुए, हमारी उपस्थिति शरीर-काल-स्थान एवं भौतिक वातावरण से ऊपर उठकर दिव्य-ईश्वरीय-धारा से प्लावित रहते हुए विराट् मण्डल में फैल जाती है। ऐसी अद्भुत दशा हो जाती है कि संस्कारों

का बनना तो हृद-देश को पार करते ही समाप्त हो चुकता है, किन्तु विराट् मण्डल में पहुँच हो जाने पर तो पूर्व संस्कारों के भोग से भी परे होकर हमारी दशा ध्यान आदि रख पाने के बन्धन से भी स्वतन्त्र हो जाती है।

संस्कार के भोग के विषय में हमारे यहाँ बहुत सी गलतफहमियाँ पल रही हैं। मैं चाहती हूँ कि इनका भी स्पष्टीकरण हो जाना चाहिये, प्रथम तो अभ्यासी भाइयों को यह बातें मुझे बहुत कष्टप्रद लगती हैं कि "मास्टर हम सबके संस्कार भोग रहे हैं।" वास्तव में हमें इस बात का भी तो ज्ञान नहीं है कि संस्कारों से ऊँचा उठ जाने पर क्या हम चाह कर भी किसी के संस्कार भोग सकते हैं? कदापि नहीं। ठीक उसी प्रकार जैसे कि ईश्वर गुणों से परे है, तो कभी वह गुणों के घेरे में आ आ ही नहीं सकता है। मैंने अपने श्री बाबू जी से पूछा तो उन्होंने हँस-कर कहा था कि "बिटिया! प्रेम में पग कर, लय - अवस्था में लय होकर कोई अभ्यासी इस योग्य बने तो कि मैं उसके संस्कार ले सकूं। किन्तु मैं उन्हें भोगने का दावा नहीं कर सकता हूं। हाँ, इच्छा-शक्ति से जला सकता हूं या फिर वातावरण में फेंक सकता हूँ, जो क्रमशः ईश्वरीय-शक्ति द्वारा वातावरण के विष की सफाई करने पर साफ होते जायेंगें।" यह उनका बड़प्पन था कि उन्होंने एक बार अपने पत्र में मुझे लिखा था कि "जब हमारे लाला जी साहब की कृपा से अभ्यासी की लय - अवस्था बढ़ते हुए अपनी सीमा को तोड़ देती है, तभी उसे मुक्ति की यह तीसरी अवस्था अर्थात् सारूप्यता की स्टेज प्राप्त हो पाती है।" आज भी मेरा ध्यान इस लेखिनी के बन्धन को तोड़कर उस अवस्था के परमानन्द में डूब जाना चाहता है। सुधि अब बेसुधि का दामन पकड़कर मुझे छोड़ गई है। बुद्धि की ग्रहणशीलता उन पावन चरणों में समा कर मानो हमेशा के लिए मुझसे विदाई ले गई है।

प्रतीक्षा को कोई आधार नहीं मिल रहा है। आखिर वह (प्रतीक्षा) मेरे लौटने की कब तक प्रतीक्षा करती, इसीलिए शायद वह भी सुहागिन सुरत में प्रवेश कर गई है। यही कारण है कि आज मेरे परम जीवन-सर्वस्व श्री बाबू जी की देन के इस अलौकिक नजारे का पान मेरे स्मरण की दृष्टि से तो ओझल है, किन्तु ध्यान की दृष्टि कहीं न कहीं से इसे समेट कर इसे मेरी लेखिनी में बद्ध कर देने के लिये निकल पड़ी है। अन्त में मेरे 'मालिक' ने ध्यान की दृष्टि को ऐसी प्रिय सफलता प्रदान कर दी है कि लेखिनी को पुनः स्वयं के ही वरद-हस्त-कमलों में थाम कर मुझमें दैविक-चेतना को थपथपा कर, मानों यह आदेश दिया है कि अब आगे का हाल लिख दें।

अब देखिये, लेखिनी लिख रही है—जानते हैं क्या ? जब अभ्यासी की गति जीवन रखते हुये भी अन्नमयी कोष के बन्धन से मुक्त हो जाती है (जिसे ईश्वरीय-शक्ति और दैविक-इच्छा के बिना प्राप्त कर पाना असम्भव होता है) तब अभ्यासी के सहज-स्वरूप में श्री बाबूजी महाराज सहज-परमानन्द की अगम्य एवं अलभ्य अवस्था उतार देते हैं। अब आप ही बतायें कि कितने पीछे छूट जाता है संस्कारों का बन्धन या भोग की गति; क्योंकि यह तो हृद-देश को पार करते ही समाप्त हो चुका होता है। किन्तु बिना स्वयं पैरे इस परम-गति के बारे में भला आप क्या बोलेगें। मैं तो कहती हूँ कि जब सन्त-गति आध्यात्मिक-दशाओं के भोग अथवा आनन्द के घेरे से अछूती ही रहती है, तो फिर आगे क्या है—चलिये और स्वयं ही देखिये और परमानन्द लय-अवस्था में लीन हुये बिना चैन न लीजिये, यही सबसे मेरी प्रार्थना है।

संस्कार-भोग के विषय में एक ग़लत फहमी यह भी फैली हुई है, विशेषतः प्रिसेप्टर भाइयो में कि यदि कोई अभ्यासी बीमार है या किसी अभ्यासी का अस्पताल में ऑपरेशन हुआ है तो यही कहते सुने गये हैं

कि 'चलो अच्छा हुआ, इसी बहाने तुम्हारे बहुत से संस्कार कट गये।' किन्तु कष्ट में डूबे उसके अपने लोग तथा वह स्वयं सान्त्वना के बजाय ऐसे शब्दों को सुनकर क्या कहते और सोचते हैं, यह उन्होंने कभी नहीं सोचा। श्री बाबूजी महाराज का कथन कितने प्रश्नों का उत्तर एक साथ दें डालता है कि "एक कर्म का भोग एक ही होता है, किन्तु प्रतिक्रिया (Reaction) की प्रतिक्रिया का विस्तार होता चला जाता है। प्रतिक्रिया भी ठोस पड़ जाने पर भोग का रूप धारण कर लेती है, अतः अभ्यासी को चाहिये कि अपने ध्यान को हर हाल में ईश्वरीय-रंग में डुबोये रखने का प्रयास करे, जिससे हमारे पास अन्यथा को ध्यान में रखने का विचार ही न पनप पाये।

एक भ्रामक विचार यह भी फैला हुआ है कि यदि मास्टर बीमार हैं, तो वे, या तो दूसरे के संस्कार भोग रहे हैं या लीला दिखा रहे हैं। प्रिसेप्टर भाई-बहिन व अभ्यासी भी यह इतनी सरलता से कह देते हैं कि लगता है कि बीमार के लिये न तो उनके जी में फ़िक्र है और न दिल में उनके लिये दर्द एवं प्रेम की गहराई होती है, जो उन्हें मजबूर कर दे कि उनके (मास्टर के) पूर्ण स्वस्थ होने के लिये दस मिनट का समय ही प्रार्थना में दें। इसके विपरीत वे निश्चिन्तता-पूर्वक घूमते हैं, जबकि कितनी ही बार मेरे 'मालिक' की ज़रा सी पीड़ा ने ही मेरी रात की नींद को भी प्रार्थना में बदल दिया। उनका पत्र आने से पहले ही कई बार मैंने उन्हें लिखा कि "मुझे ऐसा लग रहा है कि या तो आपके पेट में दर्द है या दमे की शिकायत है। इसका प्रभाव मैंने यही पाया कि अक्सर ऐसा पत्र पाते ही वे पूर्ण स्वस्थ हो जाते थे, चेहरा खिल उठता था। जानते हैं भाई कि यह करिश्मा किसका था? प्रेम की इस अवस्था का जो वे हम अभ्यासियों को प्रदान करते हैं :—

"बल न छुटे तेरे बालों के, अरु लब से फरियाद ।
जैसे मणि न छुटे काले से, मुझसे तेरी याद ॥"

वास्तव में हमारा आदि-स्वरूप ही हमारे अन्तर का आभूषण है, जिसमें हमारा मन डूबना चाहता है। श्री बाबूजी द्वारा अन्तर में प्रवाहित ईश्वरीय-धारा का प्रवाह आध्यात्मिक-पथ में उनके शोध-कार्य की क्षमता का साक्षी है। आज वे ही इस लेखिनी द्वारा इस तथ्य का सजीव उदाहरण इस पुस्तक के रूप में समस्त के समक्ष रख रहें हैं कि 'वे सबको प्यार करते हैं,' ताकि प्राणिमात्र इसके प्रभाव में लय होकर पावन-श्वांस पा सके।

卐

(ज) एक रहस्य

आज जब मेरी यह लेखिनी आध्यात्मिक-क्षेत्र की अनन्त यात्रा में बढ़ते हुए उनके हर कथन के रहस्य को उनकी ही कृपा से अपनी हालत का हवाला देते हुए लिखने के लिये उठ चुकी है तो इस "विविध दशायें" नामक चैप्टर में उनके इस कथन के एक और रहस्य को जिसे उन्होंने अपनी इस बिटिया में दैविक हालत के रूप में उतार कर स्पष्ट कर दिया था, आज आप सबके समक्ष रख देने के लिये उठ रही है। 'उनका' कथन है कि "Meditation (ध्यान) करते हुए हमारा ज़र्रा-ज़र्रा Divine light (दिव्य-प्रकाश) में बदल जाता है। फिर करवट लेने पर Energy (ऊर्जा) हो जाता है। Energy (ऊर्जा) से फिर Absolute (सम्पूर्ण) बन जाता है। फिर प्रति कण-कण का स्वयं का पृथक सेन्टर बन जाता है।" अब जब Divine Power (दैविक-शक्ति)

का केन्द्र अपना पृथक अस्तित्व रख ही नहीं सकता है, तो फिर सब सेन्टर मिल कर एक मुख्य केन्द्र हो जाता है। 'उनके' इस महत्-कथन की स्पष्टता का दर्शन स्वयं में पाकर ही सबके समक्ष रख पाने की क्षमता लेखिनी पा सकी है।

सहज-मार्ग साधना में अन्तर में दिव्य-प्रकाश का ध्यान रखते हुए सर्व प्रथम तो हमारा एक-एक जर्रा धीरे-धीरे दिव्य-प्रकाश में परिवर्त्तित होता जाता है। फलस्वरूप ध्यान की इस प्रक्रिया के पूर्ण रूप में निखर आने पर फिर जिधर भी हम देखते हैं, उधर ही दिव्य-प्रकाश ही फैला हुआ लगता है। चीजों का भौतिक-रूप निगाह से हट जाता है। इतना ही नहीं, फिर जिधर भी हम निकल जाते हैं, तो ऐसा लगता है कि मानों मेरी जगह प्रकाश ही प्रकाश चारों ओर फैला हुआ है। पश्चात् मैंने यह पाया कि हर कण-कण डिवाइन पावर से भरना शुरू हो जाता है। क्रमश: फिर ऐसा लगता है कि हमारा अणु-अणु ड़िवाइन एनर्जी में ही बदल गया है। इस हालत की अनुभूति पाने पर ही मैंने 'श्री बाबू जी' महाराज को लिखा था कि "जिधर भी मैं निकल जाती हूँ, लगता है पावर का तेज ही फैल जाता है।" यह तेज दिव्य-शक्ति का ही होता है। सहज-मार्ग की सहजता एवं सफलता तो देखिये कि प्रथम दिव्य-प्रकाश का हृदय में ध्यान रखते-रखते वह दिव्य-प्रकाश हमारे कण-कण की भौतिक-तत्वों को अपनी सामीप्यता का सेंक देते हुए पिघला कर बाहर फेंक देती है और अन्तत: प्रथम तो हमारा कण-कण दिव्य-प्रकाश में परिवर्त्तित हो जाता है। पुन: बारी स्वत: ही ऐसी आ जाती है कि समस्त में हमें दिव्य-प्रकाश ही फैला हुआ दिखाई देता है और अपना स्वरूप दिव्य-तेज का श्रोत मालूम पड़ने लगता है। जानते हैं, ऐसा क्यों होता है, यह भी सहज-मार्ग साधना का रहस्य है कि "दिव्य-प्रकाश का ध्यान, ध्यान में समा जाता है, तब तो दिव्य-प्रकाश का

पावन नजारा अनुभव में आता है। फिर अनुभव लाता है समक्ष में उन्हें, जिसका यह दिव्य-प्रकाश है अर्थात् डिवाइन पावर का, जो प्राणिमात्र के अन्तर में विद्यमान है। इस अनुभव के पश्चात् ही दशा परिवर्तित हो जाती है और हमें ऐसा प्रतीत होता है कि यह तेज अपनी वास्तविकता में लय हो जाता है अर्थात् अपने पूर्णत्व (Absolute) में परिवर्तित हो जाता है। लगता है, यह लेखिनी पुनः पुनः ठहर कर प्रतीक्षा करती है कि अब आगे क्या लिखने को मिलेगा। अब देखिये यह अपने बाबूजी महाराज का कथन प्रत्यक्ष करने जा रही है कि "एनर्जी टर्नस् इनटू ऐब्सोल्यूट" (Energy turns into Absolute).

यह पावन अनुभूति भरने के पश्चात् हम डायरी में यह लिखने को मजबूर हो जाते हैं कि "मेरा कण-कण मानों ईश्वर का ही रूप हो गया है।" इस अलौकिक-अनुभूति भरने के बाद जो दैविक-रहस्य समक्ष में आता है, इसे लिख पाने में लेखिनी पुकार उठती है कि "अब वह हालत नहीं, बल्कि हालत की हालत लिख रही है।" फिर यह अपने श्री बाबूजी को लिखती है कि "अब तो जीते जी अपना जर्रा-जर्रा छिन्न-भिन्न हो गया है।" तत्पश्चात् ऐसा प्रत्यक्ष प्रतीत होता है कि "हर कण-कण ईश्वर-मय हो जाने के कारण हर अणु-अणु स्वयं में एक केन्द्र बन जाता है। अब मेरी समझ में प्रत्यक्ष होता जा रहा है कि दिव्य-शक्ति पूर्ण जर्रे-जर्रे को जोड़ कर फिर पुतला नहीं बनाया जा सकता है, अतः यह अपने एक मुख्य केन्द्र में लय हो जाते हैं। अतः आज मेरे श्री बाबू जी महाराज ने समक्ष यह भी स्पष्ट कर दिया है कि "दैविक-शक्ति के प्रसारण का मुख्य-केन्द्र यही है, जहाँ से समस्त को दैविक-शक्ति का प्रसारण प्राप्त होता है।" श्री बाबूजी महाराज के कथन की गहनता ने आज समस्त के सन्मुख श्रेष्ठ-दैविक-रहस्य को भी स्पष्ट कर दिया है। अथवा यों कह लीजिये कि "असलियत की

असलियत को भी खोल दिया है।"

इस दैविक-रहस्यों के तथ्य को मात्र मेरे मालिक श्री बाबूजी महाराज ने ही समस्त के लिये उजागर कर दिया है। यह लेखिनी उनकी देन को तो लिख सकती है, किन्तु अपने श्री बाबूजी महाराज के बारे में कुछ लिख पाने में आगे नहीं बढ़ पाती है, परन्तु उन्होंने इसे अपना स्पर्श देकर धन्य तो बना ही दिया है।

★

(झ) आइडेन्टिटी और निगेशन

परम पूज्य श्री बाबू जी महाराज के ये दो कथन गत वर्ष से मेरे अन्तर में कुरदेन मचा रहे हैं। प्रथम तो यह है कि "आइडेन्टिटी खुद को Indentify नहीं कर पाती है" और दूसरा कथन यह कि "निगेशन, और फिर निगेशन का भी निगेशन हो जाता है।" ये दो कथन उनके ही द्वारा मेरे अंतस् में अपने समाधान की स्पष्टता की छलाँग का स्पर्श पा रहे हैं। कदाचित् यही कारण है कि अलौकिक - आश्चर्य चकित लेखिनी उनके इन दोनों कथन की स्पष्टता की उज्ज्वलता को समस्त के लिये, कुछ लेखन के लिये ठान बैठी है। कदाचित् इस प्रतीक्षा में कि अन्तिम - सत्य की गहनता ही स्वयं में से इन दोनों दैविक - कथन की दिव्य-दशाओं को समस्त के लिये स्पष्ट कर ही देगी।

मेरे बाबू जी महाराज के इन दोनों कथन के फलस्वरूप एक प्रश्न ने मेरे समक्ष में उभर कर स्पष्टता माँगी कि "जब लय - अवस्था पूर्ण होकर अपनी गरिमा को भी साक्षात्कार में लय कर देती है, तब फिर वह कौन अवशेष होता है कि जिसे अपने संकल्प में भरकर हमारे बाबू

जी पैराव देते हुए आगे ले ले चलते हैं और अन्त में अन्तिम - सत्य के क्षेत्र में प्रवेश दे देते हैं।" यह तो श्री बाबू जी का यह कथन भी स्पष्ट कर रहा है कि यह आइडेन्टिटी है फिर आगे जाने में Identity can not identity itself अर्थात् अपने होने का भाव या अस्तित्व के अक्स को अस्तित्व पहिचान भले ही नहीं पाता है, किन्तु यह तो स्पष्ट है ही कि भले ही पहिचान न पावे किन्तु कुछ तो शेष रह जाता है, बस इसे ही हमारे श्री बाबू जी महाराज अपने संकल्प में लय करके सेन्टर-रीजन में पैराव देते हुए ले चलते हैं। इतना ही नहीं, पश्चात् कब और कैसे हमारे अस्तित्व के भावहीन भाव को सहेजते हुए मूल-केन्द्र अर्थात् सात रिंग्स को भी पार कराते हुए लेटेन्ट मोशन के मध्य से निकालते हुए अर्थात् भूमा की शक्ति की गरिमा को गौरवान्वित करते हुए आदि - केन्द्र के समक्ष खड़ा कर देते हैं। किन्तु, कब और किन अनुभूतियों को मेरे समक्ष उतार कर मेरे श्री बाबू जी उपरोक्त दिव्य-दशा में प्रवेश दे देते हैं। आज अपने कथन का विवरण देने के लिये स्वयं, मेरे मालिक ने ही लेखिनी को सँभाल लिया है। तो फिर आप पढ़िये कि यह क्या लिख रही है। इस विवरण देने के लिये उन्होंने छियालिस वर्ष पहले का मेरा अभ्यास काल मेरे समक्ष उतार दिया है। यह इसलिये कि जो कुछ भी लिखा जाये वह मात्र अनुभव के आधार पर ही हो, जैसी कि उनको मुझसे अपेक्षा थी। इसमें मेरे आरम्भिक अभ्यास काल के अनुभव से लेकर अन्तिम - सत्य तक की अभुभूति ही ओत-प्रोत है।

सहज-मार्ग साधना में हमारे अन्तर में ईश्वरीय-प्रकाश का ध्यान रखते हुए समस्त हृदयों में उपस्थित ईश्वर के आविर्भाव को स्मरण में रखते हुए विचारों को उनसे योग दिये रहें, यहाँ से आरम्भ होती है। इसका तत्कालीन प्रभाव हम पर यह पड़ता है कि अपने भौतिक-

तत्व अर्थात् अन्नमयी कोष का एहसास अपने साथ ले चलने वाले श्री बाबू जी महाराज के द्वारा ईश्वरमय होकर सारूप्य-अवस्था के नाम से धन्य हो लेता है। अब इस अनुभव में अपना नाम सुनने पर मुख तो उधर उठ जाता है, शरीर कार्यरत भी रहता है, किन्तु वह नाम का सम्बोधन हमें स्पर्श नहीं कर पाता है। कैसा आश्चर्य होता है कि कार्य पूरे होते हैं हमारे द्वारा, लेकिन कार्यों का सम्बन्ध, नाम का सम्बोधन कुछ भी हमें पता ही नहीं चलता है। तत्पश्चात् श्री बाबूजी महाराज से दैविक-शक्ति का सेंक बराबर मिलते रहने से मैंने पाया कि हमारा सूक्ष्म - शरीर भी क्रमशः पिघलने लगता है एवं सूक्ष्म-तत्व भी दैविक-सारूप्य में लय होने लगता है। क्रमशः लय-अवस्था में लय रहते हुए फ़नायेफ़ना-अवस्था में विलीन हो जाती है। सूक्ष्म - शरीर के लय हो जाने पर परमानन्द का समय आ जाता है, क्योंकि इस प्रकार एक दिन ईश्वरीय - क्षेत्र में उन्नति करते हुए आत्मा - परमात्मा में लय हो जाने के लिये तिलमिला उठती है। उनकी कृपा तो देखिए कि इस तिलमिलाहट को, जो कि निमेशन की अवस्था अर्थात् अहं भाव की जान है, इसे ही आगे चलकर ईश्वरीय-गति में विलीन कर देती। परंतु जब मैंने इस तिलमिलाहट की परमानन्दमय - अवस्था के बारे में श्री बाबू जी महाराज को लिखा तो 'आप का उत्तर क्या था, मानों स्वयं वे ही इस परम मिलन (आत्मा का परमात्मा में लय हो जाने के अलौकिक-दृश्य) को देखने के लिये मेरे समक्ष आ खड़े हुए थे। 'उन्होंने' मुझे लिखा था कि "आज तुम्हारी हालत पढ़कर मेरी खुशी भी खुश हो उठी है। तुमने जो लिखा है कि 'ऐसी हालत है कि लगता है कि मेरा अन्तर एक अनजानी प्रसन्नता में डूबा हुआ झूमझूम कर नृत्य कर रहा है'। इसकी सत्य-दशा को तो आत्मा का नृत्य कहा जा सकता है, जो कि परमात्म-मिलन के लिये विभोर होकर नृत्य कर उठी है।" इस अद्भुत - परम - अवस्था की प्राप्ति के बाद अभ्यासी हृदय क्षेत्र (हार्ट

रीजन) को पार कर जाता है।

आपने देखा कि इस मिलन के लिये जो तिलमिलाहट पैदा हुई, वह निगेशन अर्थात् अपने होने के भाव की जान है, जो आगे हिरण्य-गर्भ (माइण्ड-रीजन) के क्षेत्र में मानों सजीव होकर इस विराट्-क्षेत्र की सर्वशक्तिमय दशा में डूबती हुई सशक्त हो उठती है। यह सहज-मार्ग की सहज - गति की सहज देन है कि अब दशा को मेरी कहूं या निगेशन की तिलमिलाहट कहूं जो इस विराट् - क्षेत्र में सशक्त हो उठती है। इसे श्री बाबू जी महाराज के कथनानुसार हिरण्य - गर्भ की शक्ति का सेंक (फोमेन्टेशन) लगातार मिलते रहने के कारण शरीर का कण-कण पिघलना शुरू हो जाता है, जिसका विलय क्रमशः हिरण्य-गर्भ अर्थात् माइण्ड-रीजन में होना प्रारम्भ हो जाता है। अब हमारे श्री बाबूजी महाराज कारण शरीर के लय होने की भी दैविक-घड़ी हमारे लिये ले आते हैं। जीवन धन्य हो जाता है और लगता है कि हमारे चारों ओर से धन्य-धन्य होने की दैविक-ध्वनि के साथ ही मानों सफेद पुष्पों की वर्षा होती हुई प्रतीत होने लगती है। हमारे श्री लाला जी साहब की, जन्म शताब्दी का महोत्सव जो मद्रास में १९७३ में मनाया गया था, वहाँ जब मैंने श्री बाबू जी महाराज से यह बात बताई, तो उनका उत्तर क्या था, मानों हर शब्द फूल की तरह से शक्ति के रूप में मेरे अन्तर - बाहर बरस रहे थे। उनका उत्तर था कि "इस क्षेत्र की शक्ति को भौतिक-रूप सहन नहीं कर सकता। है, इसलिये यह दैविक देन है कि फूल के रूप में बरसती हुई यह दिव्य-शक्ति तुम्हारे में जज्ब होती जा रही है।" उनके इस दिव्य कथनों को श्रवण करते-करते ही मुझे लगा कि मानों मेरे होने का पूर्ण भाव हमेशा के लिये मुझे छोड़कर उनमें लय हो चुका था। तब अनजाने ही लेखिनी ने उन्हें अपनी दशा के बारे में निगेशन शब्द का स्वतः प्रयोग किया था, क्योंकि जब अपने अस्तित्व का कारण ही लय हो गया तो अहं भाव कहाँ ठहर पाता।

सर्वप्रथम अब श्री बाबूजी महाराज का दैविक-कथन कि वास्तव में निगेशन क्या है, इसकी हालत क्या है, यह हमारे समक्ष स्पष्ट हो गया, किन्तु आप यह भी जानना चाहेगें कि आइडेन्टिटी क्या है, तो यह कथन भी आपके समक्ष स्पष्ट होने जा रहा है। तो सुनिये, अब जब अपने होने का भाव तो पूर्णतयः लय हो जाता है, परन्तु वह चीज अभी शेष रहती है कि जिसके प्रति अपने होने का भाव जन्मा था, बस यह आइडेन्टिटी है। इसे कारण का कारण भी कह सकते हैं। अब आइडेन्टिटी की हालत तो उनकी कृपा से समस्त के लिये स्पष्ट हो गई, परन्तु अब उनके प्यार की सीमा से कोई वायब्रेशन (स्पन्दन) हमें स्पर्श करके यह जता रहा है कि यह अवशेष भी क्यों शेष रहे, इसलिए "आ मेरे लाल" की ध्वनि का यह दैविक-स्फुरण हमारे संकल्प को कि हमें उन्हें पाना ही है, मानो सजीवता प्रदान कर देता है। अब हमारे बाबूजी आगे हमारे इस सहज संकल्प को अपने दैविक संकल्प में कि "प्राणिमात्र को भूमा तक उन्हें पहुँचाना है" में लय करके सेन्टर-रीजन में पैराव आरम्भ कर देते हैं। ऐसा होना ही होता है, क्योंकि ईश्वरीय-साक्षात्कार में हमारे अस्तित्व के कारण को तो बाबूजी ईश्वरीय-शक्ति में लय कर देते हैं, फिर आश्चर्य स्वयं ही गद्गद् हो उठता है, जब यह पाता है कि ऐसा करने के बाद कारण के कारण अर्थात् आइडेन्टिटी की आइडेन्टिटी को मात्र ईश्वरीय-मूल-केन्द्र में स्नान करा कर निज के दैविक-संकल्प में लय करके चलते हैं। सेन्टर-रीजन की अनन्त-यात्रा में प्रवेश देकर पैराव आरम्भ कर देते हैं, क्योंकि साक्षात्कार हो जाने के बाद हमारा सहज-संकल्प अकेला रह जाता है, कि हमें अन्तिम-सत्य तक पहूँचना है। यहाँ पर श्री बाबूजी का एक कथन हमारे समक्ष और स्पष्ट हो जाता है कि "भूमा के कक्ष का मजा क्या है ? बेमजा, अर्थात् संग-पत्थर बेनमक आदि।" इसका अर्थ तो इस कक्ष में या सात रिंग्स के अन्दर प्रवेश पाने पर ही मिलने लगता है—वह यह कि लगता है

कि उस स्थान का कैरेक्टर ही वहाँ के बेमजा की हालत का प्रमाण है, किन्तु तारीफ यह भी है कि वहाँ की वास्तविकता यह है कि वहाँ रहने का मजा ही संग-पत्थर बेनमक के समान में नमक के सदृश प्रतीत होता है और हम वहाँ का जीवन रहित जीवन अपना कर वहाल रहते हैं। तभी तो श्री बाबूजी महाराज का दैविक-संकल्प इसे अपना लेता है और वे सत्य-पद के द्वार में हमें प्रवेश दे देते हैं। इस तरह से भूमा के अनन्त-दिव्य देश, सेन्टर-रीजन की अनन्त-यात्रा आरम्भ हो जाती है।

अब मात्र मेरे अन्तर में स्पन्दन लाने वाला यह प्रश्न कि "जब शेष का अवशेष भी लय हो जाता है, तब फिर वह कौन सी चीज़ होती है, जिसे अपने संकल्प या जी में लेकर हमारे बाबूजी भूमा के मुख्य-केन्द्र में सात रिंग्स में प्रवेश देकर ले चलते हैं, उनका भी सात्कार प्रदान करने। मंगल को भी मंगलमय बनाने वाली यह कौन सी चीज़ होती है, जिसे एक - एक रिंग्स का दर्शन एवं वहाँ के वातावरण की प्रत्क्षता को, जो वहाँ की हालत है, या यों कहें कि उस मुख्य-केन्द्र की असलियत है, को भी हम पर तारी कर देते हैं। सत्य यह है कि वहाँ मात्र दैविक-स्पन्दन ही हमें यह ज्ञान देता है कि यहाँ ठहर पाने के लिए यहाँ का जीवन ही तुझे अपनाना है, जो वह स्पन्दन ही है। मैं विमूढ़ सी ठगी सी खड़ी हूँ और मौन लेखनी के साथ यहाँ के इस कैरेक्टर की साक्षी तो हैं, किन्तु आगे लेखिनी मौन किस प्रकार तोड़े यह समझ से परे है। परन्तु यह क्या? इसे तो मौन तोड़ना ही पड़ा, क्योंकि भूमा की शक्ति के प्रांगण में खेलने वाला गोपाल [श्री बाबूजी] ने मानों वहाँ के स्पन्दन से ही मेरे स्वरूप को सँवार दिया था, जिसे अपनी पुस्तक एवं कथन में उन्होंने ही दैविक नाम देने का साहस किया है कि यहाँ "आइडेन्टिटी कैन नौट आइडेन्टीफाई इटसेल्फ"। असलियत भी तो यही है कि दैविक-स्पन्दन, दैविक-स्पन्दन से ही सँवारे गये स्वरूप

को भला कैसे पहिचान सकती है। एक शर्त यह भी तो यहाँ है कि पहिचान शब्द का प्रयोग पाते ही दैविक-स्पन्दन में स्फुरणना उत्पन्न होने से खेल बिगड़ जायेगा, क्योंकि फिर स्पन्दन और स्फुरणना दो शब्द हो जायेगें। बस, अन्तर में मचलता यह दैविक- प्रश्न आज सरल हो गया कि फिर यह कौन सी चीज होती है, जिसे श्री बाबू जी महाराज अपने संकल्प में ले चलते हैं भूमा के दिव्य-देश, सात रिंग्स के भीतर। यहाँ निगेशन फ्रॉम निगेशन ने भी अपनी असलियत को खोल दिया है। यहाँ भूमा के दिव्य-देश की असलियत ने यह राज़ भी समस्त के लिये स्पष्ट कर दिया है कि वह प्रथम क्षोभ या विचार जो 'सृष्टि रचना का' सृष्टि कर्त्ता के साथ जुड़ा है, इस प्रथम विचार को ही, जो मानव में अपरोक्ष रूप में मौजूद है, इसे ही श्री बाबू जी महाराज अपने सहज-दिव्य-संकल्प में लय करके भूमा के अविचल-देश में हमें प्रवेश देते हैं। यही कारण है कि पृथ्वी पर यह एक ही ऐसी शक्ति अवतरित हुई है, जो सृष्टि-कर्त्ता के कदमों का चुम्बन करती हुई अपने अभ्यासियों को वहाँ तक पहुँचाने का दम भर सकती है।

★

"जब आदमी सोता है, तो जो उसके सैर करने का स्थान होता है, ज्यादातर उसी में विचरता है मगर जब Limitations और Bcndages टूट जाते हैं, तो फिर उसका पसारा बहुत बड़ा हो जाता है और मैं तो यह कहूँगा कि ईश्वर से मिलने का वही वक्त होता है।

—बहिन कस्तूरी को लिखे गये श्री बाबूजी के पत्र से उद्धृत।

उपहार

. 'वह सबको प्यार करते हैं' —मेरी इस पुस्तक का उपसंहार हो ही नहीं सकता हैं, क्योंकि प्यार की इति श्री न कभी हुई है और न कभी हो सकती है। समस्त के लिये आज यह पुस्तक दिव्य-उपहार के रूप में प्रस्तुत हो रही है। अपने श्री बाबू जी के दिव्य पावन चरणद्वय के स्पर्श में डूबी हुई मेरी यह लेखिनी मानव-मात्र के लिये दैविक - प्यार की वर्षा करती हुई 'भूमा' की परम-शक्ति भरा हौसला देकर लक्ष्य के प्रति हमें चिरन्तन जागरुकता प्रदान करती रहेगी। यह दिव्य-विभूति भू से परे रहने हुए भी भू + मा अर्थात् पृथ्वी पर छाई हुई है। श्री बाबू जी के रूप में ये सदैव हमें मुबारक हैं और मुबारक रहेगी। इस दैविक अनुभूति से हमें सजा देने के लिये कि प्यार का पार कोई पा ही नहीं सकता है एवं प्यार की इति श्री तभी होती है, जब कि यह अपनी परिभाषा को भी त्याग कर हमें अपनी असलियत में डुबो नहीं देती है। इसकी असलियत हमें हौसला देती है कि जब ईश्वर के प्रेम को पाया है अर्थात् साक्षात्कार तेरा परम लक्ष्य बन गया है तो फिर देरी क्यों है ? दौड़ चल, फिर पा ले अपने प्रिय को अर्थात् प्यार से अपने प्रिय का साक्षात्कार पा ले। इस पुस्तक के लेखन में 'साक्षात्कार' नामक प्रथम अध्याय में मात्र इन दो शब्दों के अर्थ का स्पष्टीकरण, मानवों में साक्षात्कार की प्राप्ति हेतु नवजीवन प्रदान करेगा और अंतर में नव चेतना का संचार भी करेगा।

आध्यात्मिक-क्षेत्र में उन्नति करते हुए हमारे समक्ष इस पुस्तक में वर्णित तीन श्रोत ही आते हैं। प्रथम श्रोत केन्द्र का आता है अर्थात्

साक्षात्कार अर्थात् ईश्वरीय केन्द्र (रीजन) का। साक्षात्कार के परम श्रोत में लय करते हुए ले चलने पर मालिक श्री बाबू जी हमें दूसरे श्रोत या केन्द्र में स्थान देते हैं अर्थात् सेन्ट्रल - रीजन या मुख्य - केन्द्र में। इस दैविक - केन्द्र में पैराव या स्वीमिंग कराते हुए हमें मूल श्रोत भूमा या आदि-केन्द्र के द्वार पर ला खड़ा कर देते हैं, जिसे श्री बाबूजी महाराज ने अपनी दैविक - पुस्तक 'Efficacy of Rajyog' (राजयोग का दिव्य दर्शन) में सात रिंग्स के नाम से लिखा है, मानों श्री बाबू जी ने अन्तिम - सत्य के समक्ष भी इस रहस्य का उद्घाटन कर दिया है कि "अब तू भी पर्दे में छिपा नहीं रह सकेगा। तेरा रहस्य अब तुझमें ही समाया नहीं रह जायेगा, बल्कि मैं तो समस्त के लिये इसे उजागर कर ही जाऊँगा। हाँ तेरे तक पहुँच पाने वाले दीवानों को जरूर खोजना पड़ेगा।" लेकिन इसका निर्णय तो हम - आप ही लेगें कि क्या ऐसे दीवाने खोजने पर उन्हें मिल सके होंगे ? कदापि नहीं ; एक - दो भी नहीं मिल सके होंगे। ऐसा दीवाना तो उन्हें स्वयं ही बनाना पड़ा होगा, वह भी अपनी दीवानगी से रंगकर और अपनी दीवानगी को उसमें उतार कर ही उसे तैयार कर पाये होंगे। हाँ ऐसे अभ्यासी के आगे शर्त यही रही होगी कि उनमें या अपने सिखाने वाले श्री बाबू जी महाराज में वह पूर्णतय: लय रह सके। मेरे श्री बाबू जी ने कई बार पत्रों में मुझे लिखा है कि "मुझे खुशी है कि मेरी हालत की पुनरावृत्ति तुममें हो रही है।"

आज मुझे ऐसा लग रहा है कि मानों यह पुस्तक उनके ही द्वारा प्राणि मात्र के लिये दिव्य - उपहार है। आज उन्होंने इसे साक्षात्कार रूपी दिव्य-प्रसाद के प्रथम एवं परम-श्रोत में डुबोकर विविध अनुभवों रूपी रत्नों से सजाकर सेन्ट्रल - रीजन के दिव्य एवं द्वितीय - श्रोत में डुबोकर पैराव भी दिया है। पुनः मेरे बाबू जी ने आदि-श्रोत भूमा के

केन्द्र की चौखट के भीतर मुझे कुछ इस तरह से प्रवेश दिया कि असलियत के नैन भी यह नहीं बता पा रहे हैं कि इन्होंने यहाँ क्या देखा है। कदाचित् इसीलिये आज मुझे ऐसा लग रहा है कि यह पुस्तक मानों उनके अपने ही जी से निकले हुए उद्‌गारों का एक संकलन है। उनके कथन की सत्यता ही इसमें अंकित है कि "मैं तो जो कुछ लाला जी साहब ने दिया है सब लुटाकर जाऊँगा। यदि कोई न मिला तो समय खुद इसे सँजोकर किसी लेखनी में पिरो देगा।"

आप सब कुछ भुला सकते हैं इस पुस्तक के विषय में डूबकर किन्तु आप कदाचित् इसे नहीं भुला पायेंगे कि आखिर अन्तिम स्रोत भूमा के केन्द्र में प्रवेश पाकर यह लेखिनी क्यों नत-मस्तक ही रह गई है। आप ठीक ही समझें हैं, क्योंकि इसमें प्रवेश पाने पर आदि-शक्ति भूमा का वैभव, जो स्वय की गरिमा से ही परिपूर्ण है, देखकर भौंचक खड़ी मैं वहां ऐसी खो गई कि मानों खोज स्वयं को ही खोजकर यह जानना चाहती है कि वह यहाँ क्यों आई है ? मुझे तो महापार्षद की परम दशा में अभिभूत सी खड़ा करके सृष्टि की शक्ति के मालिक श्री बाबू जी मानों यहाँ के एटीकेट अर्थात् शिष्टता (सद्‌व्यवहार) को निभाते हुए भूमा के लाल के सदृश वहाँ खबर देने गये है कि तेरा कोई बन्दा सातों द्वार अर्थात् सात रिंग्स का स्पर्श पाकर अब तेरे ही मुख्य - केन्द्र के विवरण को मेरे द्वारा लेखिनी में भरकर उतार पाने के लिये विह्वल है। इसे भूमा का केन्द्र कहूँ या क्या कहूँ, कुछ भी समझ में नहीं आ रहा है। खोज की गम्य से परे, परा-शक्ति से परे, विशुद्ध मासूमियत (Innocence) का यह अजनबी केन्द्र है। अनूठी गति से सजाकर, अपने दैविक - संकल्प की ओढ़नी में सँवार कर इसमें ले चलने वाले एकमात्र श्री बाबू जी महाराज ही हैं। हमारे समर्थ सद्‌गुरु श्री लाला जी साहब का ही अनूठा प्यार था, जो अपनी प्रार्थना द्वारा भूमा की गोद से माँग कर इन्हें लाये थे।

युग का शत्-शत् नमन आज अपने बाबू जी महाराज के पावन चरण-द्वय को अपने प्राणों के प्यार रूपी अश्रुओं द्वारा पखार कर धन्य हो रहा है। इतना ही नहीं, हमें आवाज़ और हौसला भी दे रहा है कि आदि-श्रोत की महत्-शक्ति का नेह-निमन्त्रण लिये हुए धरा पर उतरी हुई दिव्य-विभूति श्री बाबू जी महाराज हमें सहज - गति में लय करके ले जाने के लिये ही आये हैं और अपने विराट् - हृदय में समेटे हुए इस पुस्तक के नाम को सार्थकता प्रदान कर रहे हैं। उनके अनन्त प्यार का यह उपसंहार नहीं, वरन् हमारे लिये दिव्य-उपहार है। इस पुस्तक में 'विविध-दशाओं' नामक अन्तिम अध्याय (Chapter) लिखते हुए तो आज मैं खो गई हूं। इस पर भी उन्होंने क्या किया कि मुझे वापिस भी भेजा तो अपने देश या केन्द्र के कुछ चित्रों सहित, ताकि लोगों के जी में ऐसी दृढ़ता पनप सके कि वे दिव्य-विभूति श्री बाबू जी महाराज में लय-अवस्था प्राप्त करके इस उपहार को प्राप्त कर सकें, जो यह दिव्य-विभूति हमारे लिये ले आई है।

सोचती हूँ कि एक से एक बढ़कर इन तीन दिव्य-श्रोतों को अलग कैसे करूँ। सम्भव है, पुस्तक पढ़ते समय स्वयं अनुभूति ही आप को बतलाती जायेगी कि वह किस श्रोत में स्नान करके आई है। यही कारण है कि पुस्तक के अन्तिम अथवा आदि - श्रोत की मैंने विविध - दशायें लिखकर ही आपके स्नान के लिये छोड़ दिया है। इसे आपको पूर्ण करना ही चाहिये।

अब ? दिव्य-अनुभूतियों की प्रत्यक्षता सहित, मूल केन्द्र भूमा के गिर्द सात रिंग्स के वैभव और शक्ति का भी पान कर अन्ततः लेखिनी थम गई है कि अब वह क्या कहे, जबकि अस्तित्व स्वयं की पहचान को भी नकारने लगा है। जानते हैं, ऐसा क्यों होता है? क्योंकि 'ज़ात' खुद ही हमें अपनी ओर ऐसे खींचने लगती है, जैसे युगों से बिछड़ा

हुआ बालक कैसे भी प्यारी माँ के समक्ष पहुँच गया हो और खुद की पहचान के साथ माँ को भी भूल गया हो। ऐसी ही स्थिति हमारी भी उस दिव्य आदि-श्रोत के वैभव व शक्ति को पान करके होती है। अन्त में मैं तो यही कहूँगी कि—

"है आई आज वह हस्ती जो, 'लाला' साथ लाये हैं।
समय है जिनका दीवाना, कि 'शम्मा' साथ लाये हैं।।
हुए वे खुद ही परवाने, अनूठी चाल देखी है।
है 'सन्ध्या' खुद ज़माने ने, निगाहे - राज़ परखी है।।"

卐

"अब चोला छोड़ने के बाद सत्संगियों को यह फायदा पहुँचता है कि सिखाने वाले को कुल कमाई दीक्षित अभ्यासियों में पहुँचती है। इसके अलावा एक चीज यह भी है, कि जिसमें प्रेम और लय अवस्था जितनी ज्यादा है, उतना ही हिस्सा उसको ज्यादा मिलता है और ऐसे ही लोग सिखाने वाले के दुनिया से कूच कर जाने के बाद भी फायदा उठाते रहते हैं।"

× × ×

"दूसरा फायदा जो Teacher के चोला छोड़ने के बाद Taught को होता है, वह यह है कि बिल्कुल खालिस फैज अभ्यासी को मिलता है और इस किस्म की तालीम भी उनको मिलती है, जिसकी जानकारी ज्यादातर 'eacher के चोला छोड़ने के बाद होती है। और भी दो एक बातें ऐसी हैं, जिनके ज़ाहिर करने के लिये शब्द नहीं मिलते।"

—बहिन कस्तूरी को लिखे गये श्री बाबूजी के पत्र से उद्धृत।

सपन की ओढ़नी का सपना
(दैविक-दृष्टि द्वारा भूमा के गौरव की एक झलक)

भूल गई मैं तो घर अपना रे।
सपन की ओढ़नी में जागे सपना सा रे ।।१

याद आये उनका था, पीछे मुड़ के देखना।
विदा देते ईश के, पसारे का पिघलना ।।
ममता का सागर मानों, इसमें समाया था रे !२

सदियों की प्रतीक्षा बोली, विदा की तैयारी कर।
शून्य ने चादर ओढ़ी, जा बैठा डोली पर ।।
संग में धीरे से, मैं भी पीछे हो ली रे !३

पैछर बताये थी कोई, साथ में हमारा था।
ज़िन्दगी के जीने का, सहारा कितना प्यारा था ।।
पलकों की पालकी से, उतरी मैं अकेली रे !४

समझेगा कौन पालकी, का पल्ला कोरा था।
लागे था ऐसा कोई, आया औ गया न था ।।
आंचर की कोर पै लिखा था, तू है नांही रे !५

देख रही वैभव आदि-शक्ति की हवेली भी।
स्वजन से द्वारे-सात, लागे थी नवेली भी ।।
मात उज्ज्वलता को भी, दे रही अंधेरे से रे !६

आदि-छवि का आईना भी, तेरा मुख निहारे है।
पैरें थीं हस्तियाँ, ये राज़ कितने न्यारे हैं॥
भौंचक है लेखिनी अब, आगे कैसे लिखें रे! ७

'लाला' तेरे छौने का ये, अद्भुत कमाल है।
स्वामी जी बोले ये तो 'भूमा' का गोपाल है।
कौन किससे पूछे हस्ती, कैसी थी ये आई रे! ८

ब़ुदा है ज़ात की, झलक का चलन भी यहाँ।
आफ़ताबे-मरिफ़त की, गरिमा भी लय है यहाँ॥
साहिबी भी इनकी औ, समाँ भी इनका फैला रे! ९

बाबूजी बोले 'सन्ध्या', बेला विदा की कर।
चौंका संकल्प तब था, देखा उन्हें जी भर॥
आरज़ू भी सिसके, वक्त लाये तू ये सबका रे! १०

भूल गई मैं तो, घर अपना रे!!

"असल में ब्रह्म-विद्या का दृश्य देखने के लिए घबराई हुई आँखों की ही जरूरत है। जब दुनिया को देखने वाली आँख फूट जाती है, तब कहीं इसके ऊपर का दृश्य सामने होता है।"

—बहिन कस्तूरी को लिखे गये श्री बाबूजी के पत्र से उद्धृत।

स्पष्टीकरण

पंक्ति	शब्द/वाक्यांश	स्पष्टीकरण
३	उनका	श्री बाबूजी का
५	इसमें	ईश्वर में
६	पैंछर	पाँव की आहट
११	पलकों की पालकी	उनकी पलकें जो बराबर मेरी ओर ठहरी हुई थीं।
१५	आदि-शक्ति की हवेली	सात रिंग्स के भीतर भूमा का अनुपम देश।
१६	स्वजन से द्वारे-सात	सात रिंग्स
१७	अंधेरे से रे	तम-अवस्था, जिसका जिक्र श्री बाबू जी ने अपनी पुस्तक **Efficacy of Rajyog** (राजयोग का दिव्य दर्शन) में दिया है।
२२	भूमा का बोपाल	जब समर्थ सद्गुरु लाला जी इन्हें धरणी पर उतार लाये, तब तक तो ये लालाजी के छौने कहलाये, परन्तु वहाँ तो वे भूमा के ही

		गोपाल हैं। इस देश [भूमा देश] में इन्हें ऐसे ही जा ज्ञाता है।
२८	वौंका संकल्प तब था	'संकल्प' को ही मालिक से वि होना था, क्योंकि यह उनक संकल्प था, जो पूरा हो चुका था। अन्तिम-सत्य की दहलीज में प्रवेश देकर।
२६	आरज़ू भी सिसके	आरज़ू अभ्यासी की थी, जो पूर्ण हो चुकी थी वतन में प्रवेश पाकर; इसलिये आरज़ू को भी अब लौटना था।
२६	वक्त लाये तू ये सबका	यह प्रार्थना थी संकल्प व आरज़ू की, कि पुन: यहाँ तक आयें किसी अभ्यासी को साथ लेकर और पुन: आपका दर्शन करें।

★

"गुरु जिस्म नहीं है और अगर उसको जिस्म समझा जावे तो कबीर साहब की कहावत के अनुसार वह अभ्यासी गुरु-पशु है।"

—अहिम कस्तूरी को लिखे गये श्री बाबूजी के पत्र से उद्धृत।